

Chapter छब्बीस

राजा पुरञ्जन का आखेट के लिए जाना और रानी का क्रुद्ध होना

नारद उवाच

स एकदा महेष्वासो रथं पञ्चाश्रमाशुगम् ।
 द्वीषं द्विचक्रमेकाक्षं त्रिवेणुं पञ्चबन्धुरम् ॥ १ ॥
 एकरशम्येकदमनमेकनीडं द्विकूबरम् ।
 पञ्चप्रहरणं सप्तवरूथं पञ्चविक्रमम् ॥ २ ॥
 हैमोपस्करमारुह्य स्वर्णवर्माक्षयेषुधिः ।
 एकादशचमूनाथः पञ्चप्रस्थमगाद्वनम् ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

नारदः उवाच—नारद ने कहा; सः—राजा पुरञ्जन; एकदा—एक बार; महा-इष्वासः—विशाल धनुष बाण लेकर; रथम्—रथ; पञ्च-अश्रमम्—पाँच घोड़े; आशु-गम्—तेजी से चलने वाले; द्वि-ईषम्—दो तीर; द्वि-चक्रम्—दो पहिए; एक—एक; अक्षम्—धुरी; त्रि—तीन; वेणुम्—ध्वजाएँ; पञ्च—पाँच; बन्धुरम्—अवरोध, डोरियाँ; एक—एक; रश्मि—लगाम; एक—एक; दमनम्—सारथी; एक—एक; नीडम्—बैठने का स्थान; द्वि—दो; कूबरम्—जुए; पञ्च—पाँच; प्रहरणम्—आयुध; सप्त—सात; वरूथम्—आवरण अथवा शरीर के अवयव; पञ्च—पाँच; विक्रमम्—चालें; हैम—सुनहला; उपस्करम्—आभूषण; आरुह्य—चढ़ कर, सवार होकर; स्वर्ण—सोने का; वर्मा—कवच; अक्षय—न समाप्त होने वाला; इषु-धिः—तरकस; एकादश—ग्यारह; चमू-नाथः—सेनापतियों; पञ्च—पाँच; प्रस्थम्—गन्तव्य; अगात्—गया; वनम्—वन में।

नारद मुनि ने आगे कहा : हे राजन्, एक बार राजा पुरञ्जन ने अपना विशाल धनुष लिया और सोने का कवच धारण करके तरकस में असंख्य तीर भर कर वह अपने ग्यारह सेनापतियों के साथ अपने रथ पर बैठ गया, जिसे पाँच तेज घोड़े खींच रहे थे और पञ्चप्रस्थ नामक वन में गया। उसने अपने साथ उस रथ में दो विस्फोटक तीर ले लिये। यह रथ दो पहियों तथा एक घूमते हुए धुरे पर स्थित था। रथ पर तीन ध्वजाएँ, एक लगाम, एक सारथी, एक बैठने का स्थान, दो काठी (जुए), पाँच आयुध तथा सात आवरण थे। यह रथ पाँच भिन्न-भिन्न शैलियों से गति कर रहा था और उसके सामने पाँच अवरोध थे। रथ की सारी साज-सजा सोने की बनी थी।

तात्पर्य : इन तीनों श्लोकों में बताया गया है कि किस प्रकार जीव का भौतिक शरीर बहिरंगा शक्ति के तीन गुणों के नियंत्रण में रहता है। यह शरीर रथ है और जीव ही इस शरीर का स्वामी है जैसाकि भगवद्गीता (२.१३) में कहा गया है—*देहिनोऽस्मिन्यथा देहे। शरीर (देह) का स्वामी देही कहलाता है और वह इस शरीर के भीतर, विशेषतः हृदय के भीतर, विद्यमान रहता है। जीव एक सारथी द्वारा चलाया जाता है। यह रथ तीन गुणों से बना है, जो कि प्रकृति के तीनों गुण हैं, जिसकी पुष्टि भगवद्गीता (१८.६१) में हुई है—*यन्त्रारूढानि मायया।* यंत्र का अर्थ है वाहन। यह शरीर प्रकृति*

द्वारा प्रदत्त है और इस शरीर का चालक है परमात्मा। जीव रथ के भीतर बैठा रहता है। ऐसी है वास्तविक स्थिति।

जीवात्मा सदैव तीन गुणों—सत्त्व, रज तथा तम—द्वारा प्रभावित होता रहता है। इसकी भी पुष्टि *भगवद्गीता* (७.१३) में हुई है—*त्रिभिर्गुणमयैर्भावैः*—जीवात्मा प्रकृति के तीन गुणों द्वारा मोहग्रस्त होता रहता है। इस श्लोक में इन तीनों गुणों को तीन पताकाएँ कहा गया है। पताका से कोई भी व्यक्ति जान सकता है कि यह रथ किसका है। इसी प्रकार प्रकृति के तीनों गुणों से यह जाना जा सकता है कि रथ किस दिशा में जा रहा है। दूसरे शब्दों में, जिसके आँखें हैं वह समझ सकता है कि प्रकृति के किसी विशेष गुण द्वारा यह शरीर किधर जा रहा है। इन तीनों श्लोकों में यह बताया गया है कि मनुष्य धार्मिक बनना चाहते हुए भी किस प्रकार तमोगुण से प्रभावित होता है। नारद मुनि प्राचीनबर्हिषत् को दिखा देना चाहते थे कि राजा तमोगुण से प्रभावित है, यद्यपि वह परम धर्मात्मा माना जाता था।

कर्मकाण्डीय के अनुसार मनुष्य वेदों द्वारा निर्देशित विविध यज्ञ सम्पन्न करता है और उन सभी यज्ञों में पशुबलि का आदेश है, ताकि मारे जाने वाले पशुओं के जीवन पर वैदिक मंत्रों की शक्ति की परीक्षा हो सके। पशुबलि निश्चय ही तमोगुण के अधीन होकर की जाती है। भले ही कोई कितना धार्मिक प्रवृत्ति वाला क्यों न हो, पशुबलि की संस्तुति सभी शास्त्रों में, न केवल वेदों में, वरन् अन्य सम्प्रदायों के आधुनिक शास्त्रों तक में है। ये पशु-यज्ञ धर्म के नाम पर किये जाते हैं, किन्तु वास्तव में ये तो तमोगुण वाले व्यक्तियों के निमित्त होते हैं। जब ऐसे लोग पशुओं का वध करते हैं, तो वे धर्म की दुहाई देते हैं। किन्तु जहाँ धर्म दिव्य पद्धति हो—यथा वैष्णव धर्म—वहाँ पशुबलि (यज्ञ) को कोई स्थान प्राप्त नहीं है। ऐसे दिव्य धर्म की संस्तुति श्रीकृष्ण ने *भगवद्गीता* (१८.६६) में की है—

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।

अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥

“तुम सभी धर्मों को छोड़कर केवल मेरी शरण में आओ। मैं तुम्हें समस्त पाप-बन्धनों से मुक्त कर दूँगा। तुम डरो नहीं।” चूँकि राजा प्राचीनबर्हिषत् विविध यज्ञों के करने में व्यस्त था जिनमें पशुओं की हत्या की जाती थी, अतः नारद मुनि ने उसे बताया कि ऐसे यज्ञ तमोगुण से प्रभावित होने के कारण किये जाते हैं। *श्रीमद्भागवत* के तो प्रारम्भ में ही (१.१.२) कहा गया है—*प्रोज्झित कैतवोऽत्र ।* ऐसे

सारे धर्मों को जो ठगी में लगे हैं *श्रीमद्भागवत* में स्थान प्राप्त नहीं है। *भगवद्धर्म* जो भगवान् के साथ अपने सम्बन्ध को बताता है—पशुबलि की संस्तुति नहीं की जाती। संकीर्तन-यज्ञ में, जिसमें—हरे कृष्ण, हरे कृष्ण, कृष्ण कृष्ण, हरे हरे। हरे राम, हरे राम, राम राम हरे हरे—महामंत्र का जप किय जाता है, कहीं भी पशुबलि की संस्तुति नहीं है।

इन तीनों श्लोकों में राजा पुरञ्जन का पशुओं को मारने के लिए जंगल को प्रस्थान करना प्रतीकात्मक रूप से तमोगुण से प्रेरित जीव का विभिन्न इन्द्रियतृप्ति के कार्यों में लगना है। यह भौतिक शरीर स्वयं बताता है कि जीवात्मा प्रकृति के तीन गुणों द्वारा प्रभावित है और उसे भौतिक वस्तुओं का भोग करने के लिए प्रवृत्त किया जा रहा है। जब शरीर तमोगुण से प्रभावित होता है, तो संक्रमण अत्यन्त बिकट होता है। जब शरीर रजोगुण से प्रभावित होता है, तो संक्रमण लक्षणात्मक स्तर पर होता है, किन्तु जब शरीर सतोगुण से प्रभावित होता है, तो यही सांसारिक भौतिक संक्रमण परिशुद्ध हो जाता है। विभिन्न धर्मों में बताये गये धार्मिक अनुष्ठान सतोगुण-स्तर पर ही होते हैं, किन्तु इस भौतिक जगत में कभी-कभी सतोगुण भी अन्य गुणों से दूषित हो जाता है, अतः कभी-कभी सतोगुणी व्यक्ति भी तमोगुण के प्रभाव में आ जाता है।

यहाँ पर इसका वर्णन हुआ है कि एक बार राजा पुरञ्जन पशुओं का वध करने के लिए जंगल में गया। इसका अर्थ यही होता है कि जीवात्मा तमोगुण के प्रभाव में आ गया। जिस जंगल में राजा आखेट करने लगा उसका नाम *पञ्चप्रस्थ* था। *पञ्च* का अर्थ “पाँच” होता है, अतः यह पाँच इन्द्रिय वस्तुओं (विषयों) का सूचक है। शरीर में पाँच कर्मेन्द्रियाँ होती हैं—हाथ, पाँव, जीभ, गुदा तथा जननेन्द्रिय। इन कर्मेन्द्रियों का पूरा-पूरा लाभ उठाकर शरीर भौतिक जीवन का भोग करता है। रथ को पाँच घोड़े खींच रहे हैं, जो पाँच इन्द्रियों—आँख, कान, नाक, त्वचा तथा जीभ-के प्रतीक हैं। ये इन्द्रियाँ विषयों के प्रति शीघ्र आकृष्ट होती हैं, फलस्वरूप घोड़ों को तेजी से चलने वाला बताया गया है। राजा पुरञ्जन के रथ में दो विस्फोटक आयुध हैं जिनकी तुलना अहंकार से की जा सकती है। इस अहंकार की दो प्रवृत्तियाँ होती हैं—मैं यह शरीर हूँ (*अहन्ता*) और मेरे सभी शारीरिक सम्बन्धी मेरे हैं (*ममता*)।

रथ के दोनों पहिए दो गतिशील सुविधाओं जैसे हैं—पापी जीवन तथा धार्मिक जीवन। रथ तीन

पताकाओं से सुसज्जित है, जो प्रकृति के तीनों गुणों के द्योतक हैं। पाँच प्रकार के अवरोध पंचवायु हैं, जो शरीर के भीतर प्रवाहित होते हैं। ये हैं—प्राण, अपान, उदान, समान तथा व्यान। शरीर में सात आवरण पाये जाते हैं—ये हैं त्वचा, पेशी, वसा, रक्त, मज्जा, अस्थि तथा वीर्य। जीव तीन सूक्ष्म तथा पाँच स्थूल तत्त्वों से ढका है। ये वास्तव में वे अवरोध हैं, जो जीव को भौतिक बन्धन से मोक्ष के मार्ग में जाते हुए मिलते हैं।

इस श्लोक में *रश्मि* (रस्सी) शब्द मन का सूचक है। *नीड* शब्द भी महत्त्वपूर्ण है क्योंकि *नीड* तो पक्षियों का घोंसला होता है। यहाँ पर *नीड* हृदय है जहाँ पर जीवात्मा स्थित है। जीवात्मा केवल एक स्थान पर बैठता है। उसके बन्धन के दो कारण होते हैं—शोक तथा मोह। इस संसार में जीवात्मा उसी वस्तु के पीछे दौड़ता है, जो उसे कभी मिल नहीं सकती। अतः वह मोह में पड़ा रहता है। ऐसी मोहग्रस्त दशा में होने से वह सदैव शोक करता रहता है। इस प्रकार शोक तथा मोह *द्विकूबर* अर्थात् बन्धन के दो स्थान कहे गये हैं।

जीवात्मा अपनी सारी इच्छाएँ पाँच विभिन्न विधियों से पूरी करता है, जो उसकी कर्मेन्द्रियों को सूचित करती हैं। सुनहरे आभूषण तथा वस्त्र सूचित करते हैं कि जीवात्मा रजोगुण से प्रभावित है। जिस व्यक्ति के पास अकूत धन होता है, वह विशेष रूप से रजोगुण के वश में होता है। रजोगुण के कारण वह इस संसार में अनेक वस्तुओं का भोग करना चाहता है। ग्यारह सेनापति दस इन्द्रियों तथा मन के सूचक हैं। मन सदैव दस सेनापतियों के साथ मिलकर संसार के भोग की योजनाएँ बनाता रहता है। पञ्चप्रस्थ नामक जंगल, जहाँ राजा आखेट करने गया था, पाँच इन्द्रिय विषयों—रूप, स्वाद, शब्द, गंध तथा स्पर्श—का जंगल है। इस प्रकार इन तीन श्लोकों में नारद मुनि भौतिक शरीर की स्थिति तथा इसके भीतर जीवात्मा के बन्दी होने का वर्णन करते हैं।

चचार मृगयां तत्र दृप्त आत्तेषुकार्मुकः ।

विहाय जायामतदर्हा मृगव्यसनलालसः ॥ ४ ॥

शब्दार्थ

चचार—किया (खेला); मृगयाम्—आखेट, शिकार; तत्र—वहाँ; दृप्तः—गर्वपूर्वक; आत्त—लेकर; इषु—तीर; कार्मुकः—धनुष; विहाय—त्याग कर; जायाम्—अपनी पत्नी को; अ-तत्-अर्हाम्—यद्यपि असम्भव; मृग—आखेट, मृगया; व्यसन—बुरी लत; लालसः—से प्रोत्साहित होकर।

यद्यपि राजा पुरञ्जन के लिए अपनी रानी को एक पल भर भी छोड़ना कठिन था। तो भी उस

दिन उसे शिकार का ऐसा शौक लगा कि अपनी पत्नी की परवाह किये बिना वह बड़े गर्व से धनुष-बाण लेकर जंगल चला गया।

तात्पर्य : एक प्रकार का शिकार स्त्री-शिकार कहलाता है। बद्धजीव कभी भी एक पत्नी से संतुष्ट नहीं होता। जिनकी इन्द्रियाँ अपने वश में नहीं होतीं वे विशेष रूप से अनेक स्त्रियों की तलाश में रहते हैं। राजा पुरञ्जन द्वारा अपनी धर्मपत्नी को छोड़ना बद्धजीव द्वारा इन्द्रियतृप्ति के लिए अनेक स्त्रियों की खोज का प्रतीक है। राजा जहाँ भी जाता है, उसे अपनी पत्नी को साथ ले जाना होता है, किन्तु जब राजा या जीव इन्द्रियतृप्ति की लालसा से त्रस्त हो जाता है, तो वह धार्मिक नियमों की परवाह नहीं करता। बजाय इसके वह गर्व के साथ आसक्ति तथा घृणा का धनुष बाण धारण करता है। हमारी चेतना सदैव दो प्रकार से कार्य करती है—एक तो सही मार्ग से तथा दूसरे गलत मार्ग से। जब किसी को रजोगुण के अधीन होने से अपने पद का गर्व हो जाता है, तो वह सही मार्ग त्याग कर गलत मार्ग अपना लेता है। क्षत्रिय राजाओं को कभी-कभी सलाह दी जाती है कि वे जंगल जाकर खूँख्वार पशुओं का शिकार करें जिससे वे वध करना सीख सकें, किन्तु इसका उद्देश्य इन्द्रियतृप्ति कभी नहीं है। मांस खाने के लिए पशुओं का वध करना मनुष्यों के लिए वर्जित है।

आसुरीं वृत्तिमाश्रित्य घोरात्मा निरनुग्रहः ।
न्यहनन्निशितैर्बाणैर्वनेषु वनगोचरान् ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

आसुरीम्—आसुरी; वृत्तिम्—व्यापार; आश्रित्य—ग्रहण करने से; घोर—कठोर; आत्मा—चेतना, हृदय; निरनुग्रहः—दयाहीन; न्यहनत्—वध किया; निशितैः—तीखे; बाणैः—बाणों से; वनेषु—वन में; वन-गोचरान्—जंगली पशुओं को।

उस समय राजा पुरञ्जन आसुरी वृत्तियों के प्रभाव में आ गया था, जिसके कारण उसका हृदय कठोर तथा दयाशून्य हो गया था, अतः उसने अपने तीखे बाणों से बिना सोचे-विचारे अनेक निर्दोष जंगली पशुओं का वध कर दिया।

तात्पर्य : जब किसी मनुष्य को अपने पद का गर्व हो जाता है, तो वह रजो तथा तमो गुणों के प्रभाव में आकर बिना रोक-टोक के अपनी इन्द्रियों का भोग करना चाहता है। इस तरह उसे आसुरी कहा जाता है। आसुरी होने पर लोग निरीह पशुओं के प्रति दयावान नहीं रह जाते; फलतः वे अनेक कसाईघर चलाते हैं। इसे सूना या हिंसा कहते हैं। कलियुग में रजो तथा तमोगुण में वृद्धि होने से प्रायः

सभी लोग आसुरी हैं, अतः उन्हें मांस खाना प्रिय है, जिसके लिए वे अनेक कसाईघर चलाते हैं।

इस कलिकाल में दया की वृत्ति प्रायः शून्य हो गई है; अतः मनुष्यों तथा राष्ट्रों के बीच सदैव संघर्ष तथा युद्ध चलते रहते हैं। मनुष्य यह नहीं समझते कि जिस प्रकार वे बिना रोक-टोक के अनेक पशुओं का वध करते हैं उसी प्रकार से महायुद्धों में उनका भी वध होगा। यह पाश्चात्य देशों में तो बहुत ही स्पष्ट दिखता है। पश्चिमी देशों में कसाईघरों पर कोई प्रतिबन्ध नहीं है, इसीलिए प्रति पाँचवें या दसवें वर्ष महायुद्ध होता है, जिसमें असंख्य लोग पशुओं से भी बुरी दशा में मारे जाते हैं। कभी-कभी युद्ध के समय सैनिक-शत्रुओं को बन्दी शिविरों में रखकर उनकी नृशंस हत्या कर दी जाती है। कसाईघरों में तथा जंगल में शिकारियों द्वारा निर्बन्ध पशु-वध का ही यह दुष्परिणाम है। अभिमानी आसुरी लोग न तो प्रकृति के नियमों से, न ही ईश्वरीय नियमों से परिचित होते हैं; इसीलिए वे परवाह किये बिना बे-रोकटोक पशुओं का वध करते रहते हैं। कृष्णभावनामृत-आन्दोलन में पशुवध सर्वथा वर्जित है। अतः किसी को तब तक इसके प्रामाणिक छात्र के रूप में स्वीकार नहीं किया जाता जब तक वह चार विधि-विधानों का व्रत नहीं ले लेता। ये हैं—पशु-वध न करना, मादक द्रव्य का सेवन न करना, अवैध स्त्री संसर्ग न करना तथा जुआ न खेलना। यह कृष्णभावनामृत-आन्दोलन ही एकमात्र उपाय है, जिसके द्वारा इस कलिकाल में मनुष्यों के पापकर्मों का निवारण किया जा सकता है।

तीर्थेषु प्रतिदृष्टेषु राजा मेध्यान्पशून्वने ।

यावदर्थमलं लुब्धो हन्यादिति नियम्यते ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

तीर्थेषु—पवित्र स्थानों में; प्रतिदृष्टेषु—वेदों के आदेशानुसार; राजा—राजा; मेध्यान्—वध के योग्य; पशून्—पशुओं को; वने—वन में; यावत्—जब तक; अर्थम्—आवश्यकतानुसार; अलम्—इससे अधिक नहीं; लुब्धः—लालची बनकर; हन्यात्—वध करे; इति—इस प्रकार; नियम्यते—नियमित करता है।

यदि राजा मांस खाने का अत्यधिक इच्छुक हो तो वह यज्ञ के लिए शास्त्रों में दिये गये आदेशों के अनुसार बन जाकर कुछ केवल वध्य पशुओं का वध करे। किसी को वृथा ही या बिना रोकटोक पशुओं के वध की अनुमति नहीं है। वेद उन मूर्ख पुरुषों के द्वारा अंधाधुंध पशुवध को नियमित करते हैं, जो तमोगुण तथा अविद्या द्वारा प्रभावित रहते हैं।

तात्पर्य : यह प्रश्न किया जा सकता है कि जीव द्वारा इन्द्रियतृप्ति पर क्यों प्रतिबन्ध लगाया जाये? यदि राजा वध सीखने के लिए जंगल जाकर पशुओं का वध कर सकता है, तो फिर इन्द्रियधारी जीव

को निर्बन्ध इन्द्रियतृप्ति क्यों न करने दी जाये? इस समय यह तर्क उन तथाकथित स्वामियों तथा योगियों द्वारा भी दिया जाता है, जो यह खुले आम कहते हैं कि जब हमारे पास इन्द्रियाँ हैं, तो फिर उनकी तृप्ति क्यों न की जाये। किन्तु ये मूर्ख स्वामी तथा योगी शास्त्रों के आदेशों को नहीं जानते। कभी-कभी इनमें से कुछ मूढ़ तो शास्त्रों का विरोध तक करते हैं। यहाँ तक कि वे भरी सभा में घोषित करते हैं कि शास्त्रों या अन्य ग्रन्थों की कोई आवश्यकता नहीं है। वे कहते हैं “मेरे पास आओ, मेरे स्पर्श करते ही तुम तुरन्त ब्रह्मभूत हो जाओगे।”

चूँकि आसुरी लोग चाहते हैं कि वे ठगे जाँय, अतः उन्हें ठगने वालों की कमी नहीं है। कलियुग में इस समय तो सम्पूर्ण मानव-समाज ऐसे ठगों एवं ठगे जाने वालों से भरा पड़ा है। इसीलिए वैदिक शास्त्रों ने इन्द्रियतृप्ति के लिए समुचित आदेश दिये हैं। इस युग में प्रत्येक व्यक्ति मांस तथा मछली खाना, शराब पीना और विषयभोग में लिप्त रहना चाहता है, किन्तु वैदिक आदेशानुसार संभोग की अनुमति केवल विवाहित जीवन में है, मांस-भक्षण केवल उन पशुओं का विहित है, जो मार कर देवी काली पर चढ़ाये गये हों तथा मादक द्रव्य-सेवन की केवल सीमित रूप में अनुमति है। इस श्लोक का *नियम्यते* शब्द सूचित करता है कि पशु-वध, मादक-द्रव्य सेवन तथा विषयभोग नियमित होना चाहिए।

नियम मनुष्यों के लिए होते हैं, पशुओं के लिए नहीं। सड़क-परिवहन के नियम कि दाहिने या बाएँ चलो मनुष्यों के लिए बने हैं न कि पशुओं के लिए। यदि कोई पशु इन नियमों का उल्लंघन करे तो उसे दण्डित नहीं किया जाता, किन्तु मनुष्य को किया जाता है। वेद पशुओं के लिए नहीं, अपितु मानव-समाज द्वारा समझे जाने के लिए हैं। जो व्यक्ति बिना विवेक के वेदों द्वारा दिये गये विधि-विधानों का अतिक्रमण करता है, वह दण्डनीय है। अतः मनुष्य को चाहिए कि अपनी कामवासनाओं के अनुसार इन्द्रियों का भोग न करे, वरन् वेदों में दिये गये नियमों के अनुसार अपने को नियमित करे। यदि राजा को जंगल में आखेट करने की अनुमति है, तो वह उसकी इन्द्रियतृप्ति के लिए नहीं है। हम वध करने की कला के साथ खिलवाड़ नहीं कर सकते। यदि राजा चोर-उचक्यों से डरता है, किन्तु दीन पशुओं को मार कर बड़े ही आनन्द से घर पर उनका मांस खाता है, तो उसे राजा बने रहने का कोई औचित्य नहीं है। उससे उसका पद ले लिया जाना चाहिए। चूँकि इस युग में राजाओं में आसुरी वृत्तियाँ

होती हैं, इसीलिए प्रत्येक देश में प्रकृति के नियमों द्वारा राजतंत्र का सफाया हो रहा है।

इस युग में लोग इतने गिर चुके हैं कि एक ओर वे बहुविवाह पर प्रतिबन्ध लगा रहे हैं और दूसरी ओर नाना प्रकार से स्त्रियों की खोज में रहते हैं। अनेक व्यापारिक प्रतिष्ठान विज्ञापित करते रहते हैं कि अमुक क्लब या दूकान में टापलेस (नंगी) युवतियाँ उपलब्ध हैं। इस प्रकार आधुनिक समाज में स्त्रियाँ इन्द्रियभोग की साधन बन गई हैं। किन्तु वेदों का वचन है कि यदि किसी को एक से अधिक स्त्री को भोगने की रुचि है—जैसाकि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और कभी-कभी शूद्र वर्णों में होता है—तो वह एक से अधिक विवाह कर सकता है। विवाह का अर्थ है स्त्री का पूरा-पूरा उत्तरदायित्व अपने ऊपर लेना और बिना विषयासक्ति के शान्तिपूर्वक रहना। किन्तु इस समय विषयासक्ति अनियंत्रित है। तो भी समाज में यह नियम बनाया जाता है कि कोई एक से अधिक विवाह नहीं कर सकता। यह आसुरी समाज का अनोखापन है।

य एवं कर्म नियतं विद्वान्कुर्वीत मानवः ।

कर्मणा तेन राजेन्द्र ज्ञानेन न स लिप्यते ॥ ७ ॥

शब्दार्थ

यः—जो; एवम्—इस प्रकार; कर्म—कार्य; नियतम्—नियमित; विद्वान्—विद्वान्; कुर्वीत—करना चाहिए; मानवः—मनुष्य; कर्मणा—ऐसे कार्यों से; तेन—इससे; राजेन्द्र—हे राजा; ज्ञानेन—ज्ञान से; न—कभी नहीं; सः—वह; लिप्यते—लिप्त होता है।

नारद मुनि ने राजा प्राचीनबर्हिषत् से आगे कहा : हे राजा, जो व्यक्ति शास्त्रानुमोदित कर्मों का आचरण करता है, वह सकाम कर्मों में लिप्त नहीं होता।

तात्पर्य : जिस प्रकार से सरकार नागरिकों को विशेष रूप से कार्य के लिए कुछ व्यापार-अनुमति पत्र बनाती है, उसी प्रकार वेदों में ऐसे आदेश हैं, जो हमारे सकाम कर्मों को नियंत्रित एवं नियमित करते हैं। सभी जीव इस संसार में अपने आप भोग के लिए आये हैं; फलतः इन्द्रियभोग को नियमित करने के लिए वेद हैं। जो व्यक्ति वैदिक नियमों के अनुसार इन्द्रिय भोग करता है, वह अपने कर्मों एवं उनके फलों में बँधता नहीं। भगवद्गीता (३.९) में आया है—यज्ञार्थात् कर्मणः—मनुष्य को यज्ञ के लिए अर्थात् विष्णु को प्रसन्न करने के लिए कर्म करना चाहिए। अन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः—अन्यथा कोई भी कर्मफल जीव के बन्धन का कारण बनेगा। मनुष्य विशेष रूप से जन्म, मृत्यु, जरा तथा रोग के बन्धन से छुटकारा प्राप्त करने के निमित्त है। अतः उसे वैदिक नियमों के अनुसार आचरण करना होता

है, जिससे वह अपनी इन्द्रियतृप्ति की इच्छाओं को पूरा कर ले और साथ ही धीरे-धीरे भवबन्धन से भी मुक्त हो ले। ऐसे नियमों के अनुसार किया गया कर्म ज्ञान कहलाता है। वस्तुतः, वेद शब्द का अर्थ ही “ज्ञान” है। ज्ञानेन न स लिप्यते बताता है कि वैदिक नियमों का पालन करने से मनुष्य कर्मों तथा उनके फलों के बन्धन में नहीं फँसता।

इसीलिए प्रत्येक व्यक्ति को वैदिक आदेशानुसार आचरण करने का उपदेश दिया जाता है न कि गैर जिम्मेदार तरीके से। जब कोई व्यक्ति किसी राज्य के नियमों तथा लाइसेंसों के अनुसार कार्य करता है, तो वह किसी अपराधिक कृत्य में नहीं फँसता। किन्तु मानवनिर्मित नियम सदैव दोषपूर्ण होते हैं, क्योंकि वे ऐसे व्यक्तियों द्वारा बनाये जाते हैं, जो त्रुटियाँ कर सकते हैं, मोहग्रस्त हो सकते हैं, ठगे जा सकते हैं और अपूर्ण इन्द्रियों वाले होते हैं। किन्तु वैदिक आदेश इनसे भिन्न हैं, क्योंकि उनमें ये चारों दोष नहीं पाये जाते। वैदिक आदेशों में त्रुटि नहीं हो सकती। वैदिक ज्ञान सीधे ईश्वर से प्राप्त होता है, अतः उसमें ठगी, मोह, त्रुटियों, इन्द्रियों की अपूर्णता का प्रश्न ही नहीं उठता। सारा वैदिक ज्ञान पूर्ण है, क्योंकि वह परम्परा द्वारा ईश्वर से प्राप्त हुआ है। श्रीमद्भागवत (१.१.१) में कहा गया है—तेने ब्रह्म हदा य आदि कवये। इस ब्रह्माण्ड के आदि प्राणी को, जो आदि कवि या ब्रह्मा कहलाता है, श्रीकृष्ण द्वारा अन्तःकरण में उपदेश दिया गया था। श्रीकृष्ण से इन आदेशों को प्राप्त करके ब्रह्मा ने इस ज्ञान को परम्परा विधि से नारद को प्रदान किया और नारद ने इसे व्यास को दिया। इस प्रकार वैदिक ज्ञान परिपूर्ण है। यदि हम वैदिक ज्ञान के अनुसार आचरण करते हैं, तो पापकर्मों में फँसने का प्रश्न ही नहीं उठता।

अन्यथा कर्म कुर्वाणो मानारूढो निबध्यते ।

गुणप्रवाहपतितो नष्टप्रज्ञो व्रजत्यधः ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

अन्यथा—नहीं तो; कर्म—सकाम कर्म; कुर्वाणः—करते हुए; मान-आरूढः—अभिमान के वशीभूत होकर; निबध्यते—फँस जाता है; गुण-प्रवाह—गुणों के प्रभाव से; पतितः—गिरा हुआ, पतित; नष्ट-प्रज्ञः—बुद्धिभ्रष्ट; व्रजति—जाता है; अधः—गर्त में, नीचे।

अन्यथा जो मनुष्य मनमाना कर्म करता है, वह मिथ्या अभिमान के कारण नीचे गिर जाता है और इस तरह प्रकृति के तीनों गुणों में फँस जाता है। इस प्रकार से जीव अपनी वास्तविक बुद्धि से रहित हो जाता है और जन्म-मृत्यु के चक्र में सदा-सदा के लिए खो जाता है। इस प्रकार वह

मल के एक सूक्ष्म जीवाणु से लेकर ब्रह्मलोक में उच्च पद तक ऊपर-नीचे आता-जाता रहता है।

तात्पर्य : इस श्लोक में कई शब्द महत्त्वपूर्ण हैं। पहला है *अन्यथा* “नहीं तो,” जो उस की ओर संकेत करता है, जिसे वैदिक विधि-विधानों की परवाह नहीं रहती। वेदों द्वारा निर्दिष्ट विधि-विधान *शास्त्र-विधि* कहलाते हैं। *भगवद्गीता* में स्पष्ट कहा गया है कि जो *शास्त्र-विधि* को स्वीकार नहीं करता है और मनमाना कार्य करता है अथवा मिथ्या गर्व से फूला रहता है, उसे इस जीवन में न तो कभी सिद्धि प्राप्त होती है और न सुख अथवा भौतिकता से मुक्ति ही मिलती है।

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः ।

न स सिद्धिमाप्नोति न सुखं न परां गतिम् ॥

“जो शास्त्रों के आदेशों की अवहेलना करता है और मनमाने ढंग से कार्य करता है उसे न तो सिद्धि मिलती है, न सुख अथवा परम धाम” (*भगवद्गीता* १६.२३)। इस प्रकार जो जानबूझ कर शास्त्र-विधि का उल्लंघन करता है, वह अपने ही कारण से प्रकृति के गुणों द्वारा उतना ही इस संसार में फँसता जाता है। अतः मानव-समाज को जीवन के वैदिक नियमों का पालन करना चाहिए जिनका सार *भगवद्गीता* में उपलब्ध हैं। अन्यथा भौतिक संसार में ही जीवन बिताना होगा। मूर्ख लोग नहीं जानते कि जीव चौरासी लाख योनियों में घूमता रहता है। क्रमिक विकास-विधि के द्वारा जब किसी को मनुष्य का रूप प्राप्त होता है, तो उससे आशा की जाती है कि वह वेदों द्वारा निर्दिष्ट विधि-विधानों का पालन करेगा। श्री चैतन्य महाप्रभु का कहना है कि अनादि काल से जीव अपनी आसुरी प्रवृत्ति के कारण प्रकृतिजन्य त्रयतापों को सहता आ रहा है; यह प्रवृत्ति भगवान् के प्रति विद्रोह करने की भावना है। श्रीकृष्ण ने भी *भगवद्गीता* (१५.७) में इसकी पुष्टि की है—

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः ।

मनः षष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति ॥

“इस बद्ध जगत में जीवात्माँ मेरे शाश्वत अंश के रूप में हैं। बद्ध जीवन के कारण उन्हें मन समेत अपनी छहों इन्द्रियों से अत्यधिक संघर्ष करना पड़ता है।” प्रत्येक जीवात्मा भगवान् का अंश है, अतः उसे इस संसार के त्रयतापों में डाले जाने का कोई कारण नहीं है, किन्तु जीव अपने को झूठे ही भोक्ता मान कर स्वेच्छा से इस भौतिक अस्तित्व को स्वीकार कर लेता है। उसे इस भयावह स्थिति से

बचाने के लिए ही भगवान् ने व्यासदेव का अवतार लेकर सारा वैदिक साहित्य प्रदान किया है। इसीलिए कहा गया है—

कृष्ण भुलि' सेइ जीव अनादि-बहिर्मुख ।

अतएव माया तारे देय संसार-दुःख ॥

“श्रीकृष्ण को भुलाने के कारण जीव अनादिकाल से भौतिकतावादी बन गया है। अतः श्रीकृष्ण की माया उसे इस जगत में नाना प्रकार के कष्ट दे रही है।” (श्रीचैतन्य-चरितामृत, मध्य २०.११७)।

माया-मुग्ध जीवेर नाहि स्वतः कृष्ण-ज्ञान ।

जीवेरे कृपाय कैला कृष्ण वेद-पुराण ॥

“जब जीव माया द्वारा मुग्ध कर लिया जाता है, तो उसकी कृष्णचेतना पुनरुज्जीवित नहीं हो पाती। ऐसी परिस्थिति में कृष्ण ने कृपा करके चार वेद तथा अठारह पुराण प्रदान किये हैं।” (चैतन्य चरितामृत, मध्य २०.१२२)। इसीलिए प्रत्येक मनुष्य को वैदिक आदेशों का लाभ उठाना चाहिए, अन्यथा वह मनमाने कार्य करेगा और बिना किसी मार्गदर्शक के रह जाएगा।

इस श्लोक में *मानारूढः* शब्द भी महत्त्वपूर्ण है। महान् विचारक तथा वैज्ञानिक बनने के बहाने विश्वभर के लोग मानसिक स्तर पर कार्य कर रहे हैं। ऐसे व्यक्ति सामान्यतः अभक्त होते हैं, क्योंकि वे प्रथम जीव ब्रह्माजी को भगवान् द्वारा दिये गये उपदेशों की परवाह नहीं करते। इसीलिए *भागवत* का (५.१८.१२) कथन है—

हरावभक्तस्य कुतो महद्गुणा

मनोरथेनासति धावतो बहिः ।

जो व्यक्ति भक्त नहीं है (अभक्त) वह बौद्धिक स्तर पर कार्य करने के कारण सुपात्र नहीं होता। ऐसे व्यक्ति को समय-समय पर अपने ज्ञान का मानक बदलना पड़ता है। फलस्वरूप हम देखते हैं कि एक दार्शनिक दूसरे से सहमत नहीं होता और एक वैज्ञानिक दूसरे वैज्ञानिक के सर्वथा विपरीत सिद्धान्त प्रस्तुत कर सकता है। इसका एकमात्र कारण ज्ञान के किसी मानक (आदर्श) के बिना मानसिक स्तर पर काम करते रहना है। किन्तु वैदिक आदेशों में ज्ञान का मानक स्वीकृत है—भले ही कभी-कभी कथन परस्पर विरोधी लगे। चूँकि वेद ज्ञान के मानक हैं, अतः भले वे विरोधी लगे, किन्तु उन्हें मानना

चाहिए। यदि उन्हें स्वीकार नहीं किया जाता तो फिर भव-बन्धन में पड़े रहना होता है।

इस श्लोक में भौतिक परिस्थितियों को *गुण-प्रवाह* कहा गया है। अतः श्रीभक्ति-विनोद ठाकुर ने अपने एक गीत में कहा है— *मिछे मायार वशे, याच्छ भेसे 'खाच्छा हाबुडुबु भाइ*—“तुम क्यों कष्ट उठा रहे हो? तुम कभी प्रकृति की तरंगों में ऊपर और कभी नीचे क्यों जा रहे हो।” *जीव कृष्ण दास, ए विश्वास, कर्ले त'आर दुःख नाइ*—“अतः तुम अपने आपको कृष्ण का दास मान लो। तब तुम्हारे सारे कष्ट दूर हो जायेंगे।” ज्योंही कोई कृष्ण की शरण में आता है और *भगवद्गीता* को ज्ञान के पूर्ण मानक रूप में स्वीकार कर लेता है, वह प्रकृति के गुणों से बाहर आ जाता है और वह कभी नीचे नहीं गिरता तथा अपने ज्ञान को नहीं खोता।

नष्टप्रज्ञः। *प्रज्ञ* का अर्थ है “पूर्ण ज्ञान,” और *नष्टप्रज्ञ* का अर्थ है “जिसे पूर्ण ज्ञान नहीं है।” जिसे पूर्ण ज्ञान नहीं होता उसके पास केवल अनुमान (मनोधर्म) रहता है। ऐसे मनोधर्म से मनुष्य नीचे की ओर गिरता हुआ नारकीय अवस्था को प्राप्त होता है। शास्त्रों द्वारा निर्धारित नियमों का उल्लंघन करने से मनुष्य का हृदय शुद्ध नहीं हो सकता और जब हृदय शुद्ध नहीं होता तो वह प्रकृति के तीनों भौतिक गुणों के अनुसार कार्य करता है। इन कार्यों का सुन्दर वर्णन *भगवद्गीता* के सत्रहवें अध्याय में श्लोक १ से लेकर ६ में हुआ है। *भगवद्गीता* (२.४५) में यह भी बताया गया है—

त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन।

निर्द्वन्द्वो नित्य सत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान् ॥

“वेदों में प्रकृति के तीन गुणों के विषय में ही मुख्य रूप से वर्णन है। हे अर्जुन! इन तीन गुणों से ऊपर उठो। इन सबसे परे (अतीत) हो जाओ। समस्त द्वन्द्वों तथा लाभ और सुरक्षा की समस्त चिन्ताओं से मुक्त बनो और आत्मपरायण होओ।” सम्पूर्ण संसार तथा सारा भौतिक ज्ञान इन तीन गुणों में निहित है। मनुष्य को इन तीनों से ऊपर उठना होता है और इस दिव्य पद को पाने के लिए भगवान् के आदेशों का पालन करना होता है। इस प्रकार यह जीवन सार्थक हो जाता है। अन्यथा वह भौतिक प्रकृति के तीन गुणों की लहरों से नीचे फेंक दिया जाएगा। इसकी आगे की व्याख्या प्रह्लाद महाराज के शब्दों में *श्रीमद्भागवत* (७.५.३०) में प्राप्त है—

मतिर्न कृष्णे परतः स्वतो वा मिथोऽभिपद्येत गृहव्रतानाम्।

अन्दान्तगोभिर्विशतां तमिस्रं पुनः पुनश्चर्वितचर्वणानाम् ॥

भौतिकतावादी व्यक्ति भौतिक सुखों में इतने अधिक व्यस्त रहते हैं कि उन्हें अपने भौतिक अनुभवों के अतिरिक्त कुछ भी पता नहीं रहता और वे प्रकृति के गुणों की लहर में बह जाते हैं। वे चर्वितचर्वण का जीवन व्यतीत करते हैं और वे अपनी अनियंत्रित इन्द्रियों द्वारा संचालित होते हैं। इस प्रकार वे नारकीय जीवन के अंधकारमय स्थानों में जाते हैं।

तत्र निर्भिन्नगात्राणां चित्रवाजैः शिलीमुखैः ।

विप्लवोऽभूद्दुःखितानां दुःसहः करुणात्मनाम् ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

तत्र—वहाँ; निर्भिन्न—भिदकर; गात्राणाम्—शरीरों वाले; चित्र-वाजैः—तरह तरह के पंखों वाले; शिली-मुखैः—तीरों द्वारा; विप्लवः—विनाश, संहार; अभूत्—हुआ; दुःखितानाम्—अत्यन्त दुखितों का; दुःसहः—असह्य; करुण-आत्मनाम्—अत्यन्त दयालु पुरुषों का।

जब राजा पुरञ्जन इस प्रकार आखेट करने लगा तो तीक्ष्ण बाणों से भिदकर जंगल में अनेक पशु अत्यधिक पीड़ा से अपना प्राण त्यागने लगे। राजा के इन विनाशकारी निर्दयतापूर्ण कार्यों को देखकर दयालु पुरुष अत्यन्त खिन्न हो गए। इस प्रकार के दयालु पुरुष यह सारा वध देख कर सहन नहीं कर सके।

तात्पर्य : जब आसुरी लोग पशुओं का वध करते हैं, तो देवता या भगवान् के भक्त इस वध से अत्यन्त आहत होते हैं। इस आधुनिक युग की आसुरी सभ्यताओं में विश्वभर में अनेक प्रकार की बध-शालाएँ (कसाईघर) चालू हैं। धूर्त स्वामी तथा योगी मूर्ख लोगों को मांस खाने तथा पशुओं का वध करने के लिए प्रोत्साहित करते रहते हैं और उसी के साथ-साथ वे अपना तथाकथित ध्यान एवं योग भी चालू रखते हैं। ये सारे कार्य अत्यन्त जघन्य हैं और कोई भी दयालु व्यक्ति तथा भगवान् का भक्त ऐसा दृश्य देखकर अत्यन्त अप्रसन्न होता है। आखेट की क्रिया भी एक भिन्न प्रकार से चल रही है, जैसाकि हम पहले कह चुके हैं। स्त्रियों का आखेट, विभिन्न प्रकार की शराबें पीना, नशे में रहना, पशुओं का वध तथा मैथुन-सुख—ये सब आधुनिक सभ्यता के आधार हैं। वैष्णवजन संसार की ऐसी दशा देखकर अत्यन्त अप्रसन्न रहते हैं, इसीलिए वे कृष्णभावनामृत-आन्दोलन के प्रसार में व्यस्त हैं।

जंगल में पशुओं के शिकार तथा वध, कसाईघरों में पशुओं का सामूहिक वध तथा वेश्यालयों में जो क्लबों और संस्थाओं के विभिन्न नामों के अन्तर्गत चलाये जाते हैं, और तरुणियों का शोषण—इन

सब को देखकर भक्तजन दुखी होते हैं। यज्ञ में पशुओं के वध के प्रति अत्यन्त दयालु होने के कारण नारद ने राजा प्राचीनबर्हिषत् को उपदेश देना प्रारम्भ किया। इन उपदेशों में उन्होंने बताया कि मेरे जैसे भक्त मानव-समाज में प्रचलित इस प्रकार के वध से अत्यन्त दुखी हैं। इस प्रकार के वध से न केवल सन्त पुरुष दुखी होते हैं, वरन् भगवान् भी दुखी होते हैं और बुद्ध के अवतार के रूप में प्रकट होते हैं। इसीलिए जयदेव गोस्वामी गाते हैं—*सदयहृदयदर्शितपशुघातम्*। मात्र पशुओं की हत्या रोकने के लिए भगवान् बुद्ध दयावश प्रकट हुए। कुछ धूर्त यह मत व्यक्त करते हैं कि पशुओं के आत्मा नहीं होता, अथवा वे जड़ हैं। इस प्रकार वे अपना औचित्य स्थापित करते हैं कि पशु की हत्या में कोई पाप नहीं होता। वस्तुतः पशु जड़ नहीं हैं, अपितु उनका वध करने वालों का हृदय जड़ होता है। अतः उन्हें कोई तर्क या दर्शन नहीं भाता। वे कसाईघरों को चालू रखते हैं और जंगल में पशुओं का वध करते रहते हैं। निष्कर्षतः जो व्यक्ति नारद जैसे साधु पुरुषों एवं उनकी परम्परा के उपदेशों की परवाह नहीं करता, वह निश्चय ही *नष्टप्रज्ञ* की कोटि में पहुँचकर नरक को जाता है।

शशान्वराहान्महिषान्गवयान्रुशल्यकान् ।

मेध्यानन्यांश्च विविधान्विनिघ्नश्रममध्यगात् ॥ १० ॥

शब्दार्थ

शशान्—खरगोशों; वराहान्—सुअरों; महिषान्—भैसों; गवयान्—नीलगायों; रुरु—कृष्ण मृग; शल्यकान्—साहियों; मेध्यान्—शिकारी जानवरों; अन्यान्—अन्यों को; च—तथा; विविधान्—विभिन्न; विनिघ्नन्—मार करके; श्रमम् अध्यगात्—अत्यधिक थक गया।

इस प्रकार राजा पुरञ्जन ने अनेक पशुओं का वध किया जिसमें खरगोश, सुअर, भैसे, नीलगाय, श्याम हिरण, साही तथा अन्य शिकारी जानवर शामिल थे। लगातार शिकार करते रहने से राजा अत्यधिक थक गया।

तात्पर्य : तमोगुणी मनुष्य अनेक पापकर्म करता है। श्रील रूप गोस्वामी अपने *भक्तिरसामृत-सिन्धु* में कहते हैं कि मनुष्य केवल अज्ञान से पापी बनता है। पापमय जीवन का परिणाम है कष्ट भोगना। जो नियमों को नहीं जानते और आदर्श नियमों का उल्लंघन करते हैं, वे कानून द्वारा दण्डित होते हैं। इसी प्रकार प्रकृति के नियम भी बड़े कठोर हैं। यदि बालक परिणाम जाने बिना अग्नि को छूता है, तो वह जल जाता है, भले ही वह बच्चा ही क्यों न हो। यदि कोई बालक प्रकृति के नियम का उल्लंघन करता है, तो उसके साथ कोई अनुकम्पा नहीं बरती जाती। मनुष्य केवल अज्ञानवश ही प्रकृति के नियमों का

उल्लंघन करता है और जब उसे ज्ञान हो जाता है, तो वह और आगे पापकर्म नहीं करता।

राजा अनेक पशुओं का वध कर लेने के बाद अत्यन्त थक गया। जब मनुष्य किसी सन्त पुरुष के सम्पर्क में आता है, तो उसे प्रकृति के कठोर नियमों का पता चलता है और वह धार्मिक बन जाता है। अधार्मिक मनुष्य पशु-तुल्य है, किन्तु कृष्णभावनामृत-आन्दोलन में ऐसे मनुष्य को वस्तुओं का सही-सही ज्ञान हो जाता है और वह चार वर्जित कार्यों को त्याग देता है। ये हैं—अवैध मैथुन, मांस भक्षण, द्यूत-क्रीड़ा तथा मद्यसेवन। यही धार्मिक जीवन का सूत्रपात है। जो अपने को तथाकथित रूप से धार्मिक कह कर इन चार वर्जित कर्मों में लगाते हैं, वे कपटी हैं। धार्मिक जीवन तथा पापकर्म एक दूसरे के साथ-साथ नहीं चल सकते। यदि कोई सचमुच धार्मिक जीवन या मोक्ष-पथ का अनुसरण करना चाहता है, तो उसे इन चार मूलभूत नियमों पर दृढ़ रहना होगा। कोई कितना ही पापी क्यों न हो यदि उसे उपयुक्त गुरु से ज्ञान प्राप्त होता है और वह अपने विगत पापकर्मों के लिए पश्चात्ताप करता है और उन्हें बन्द कर देता है, तो वह तुरन्त घर लौटने अर्थात् भगवान् के धाम वापस जाने का पात्र बन जाता है। यह तभी सम्भव है जब शास्त्र-विधियों का तथा गुरु के उपदेशों का पालन किया जाये।

इस समय सारा संसार अंधी भौतिकतावादी सभ्यता से विरक्ति लेने के कगार पर है, जिसकी तुलना जंगल में पशुओं के आखेट से की जा सकती है। लोगों को इस कृष्णभावनामृत-आन्दोलन का लाभ उठाना चाहिए और उन्हें हत्या करने के इस कष्टप्रद जीवन से विराम लेना चाहिए। कहा जाता है कि पशुओं के हत्यारों को न तो जीना चाहिए न मरना। यदि वे पशुओं को मारने तथा स्त्रियों के साथ भोग करने के लिए जीवित रहते हैं, तो उनका जीवन अधिक सम्पन्न नहीं रहता। और ज्योंही हत्यारा मरता है, वह निम्न योनि में जन्म-मरण के चक्र में प्रवेश करता है। यह भी वांछनीय नहीं है। निष्कर्ष यह निकलता है कि हत्यारों को हत्या करनी बन्द कर देनी चाहिए और जीवन को सफल बनाने के लिए कृष्णभावनामृत-आन्दोलन में सम्मिलित होना चाहिए। आत्महत्या करके ऐसा भ्रमित एवं हताश व्यक्ति कभी विश्राम प्राप्त नहीं करता, क्योंकि आत्महत्या से उसे निम्नयोनि में जाना होगा या भूत-प्रेत बनना होगा, क्योंकि उसे स्थूल देह नहीं प्राप्त होगी। अतः सर्वश्रेष्ठ उपाय यही है कि पापकर्मों से पूर्ण विरक्ति ले ली जाये और कृष्णभक्ति की जाये। इस प्रकार मनुष्य पूर्ण बनकर घर को अर्थात् भगवान् के धाम वापस जा सकता है।

ततः क्षुत्तृपरिश्रान्तो निवृत्तो गृहमेधिवान् ।
कृतस्नानोचिताहारः संविवेश गतक्लमः ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

ततः—पत्पश्चात्; क्षुत्—भूख से; तृट्—प्यास से; परिश्रान्तः—अत्यधिक थक कर; निवृत्तः—विराम या विरक्ति लेकर; गृहम् एधिवान्—अपने घर वापस आया; कृत—करके; स्नान—स्नान; उचित-आहारः—समुचित भोजन; संविवेश—विश्राम किया; गत-क्लमः—थकान से रहित होकर ।

इसके बाद अत्यन्त थका-माँदा, भूखा एवं प्यासा राजा अपने राजमहल लौट आया। लौटने के बाद उसने स्नान किया और यथोचित भोजन किया। तब उसने विश्राम किया और इस तरह सारी थकान से मुक्त हो गया।

तात्पर्य : भौतिकतावादी मनुष्य पूरे सप्ताह अत्यधिक परिश्रम करता है। वह सदैव पूछता रहता है, “धन कहाँ है? धन कहाँ है?” फिर सप्ताहान्त में वह इन कार्यों से छुट्टी लेकर विश्राम करने के लिए किसी एकान्त स्थान में जाना चाहता है। राजा पुरञ्जन अपने घर इसलिए लौट आया, क्योंकि जंगल में पशुओं का शिकार करते-करते वह अत्यधिक थक चुका था। इस प्रकार उसके अन्तःकरण ने उसे और पापकर्म करने से मना करके उसे अपने घर लौटने के लिए विवश किया। *भगवद्गीता* में भौतिकतावादी व्यक्तियों को *दुष्कृतिनः* कहा गया है, जिसका अर्थ है कि वे सदा पापकर्मों में लगे रहते हैं। जब मनुष्य को चेत होता है कि वह पापकर्मों में लगा है, तो उसका विवेक जागता है, जिसे यहाँ पर रूपक के अलंकार की भाषा में महल कहा गया है। सामान्यतः भौतिकतावादी मनुष्य रजो तथा तमो गुणों से प्रभावित होता है। रजो तथा तमों गुणों का परिणाम होता है काम तथा लोभ। भौतिकतावादी मनुष्य के जीवन में कर्मठता का अर्थ है काम तथा लोभ के वशीभूत होकर कार्य करना। किन्तु जब उसे चेत होता है, तो वह निवृत्ति चाहता है। वैदिक सभ्यता में ऐसी निवृत्ति के लिए संस्तुति की गई है और जीवन के इस भाग को वानप्रस्थ कहते हैं। भौतिकतावादी के लिए तो वानप्रस्थ और भी आवश्यक है, क्योंकि वह पापमय जीवन के कार्यों से निवृत्त होना चाहता है।

राजा पुरञ्जन का घर आना, स्नान करना और उपयुक्त भोजन करना—ये बताते हैं कि भौतिकतावादी मनुष्य को पापमय जीवन से निवृत्ति ले लेनी चाहिए और गुरु स्वीकार करके शुद्ध होकर उससे जीवन के मूल्य के बारे में सुनना चाहिए। ऐसा करने पर उसे ताजगी (नवीनता) महसूस होगी जिस प्रकार कि स्नान करने से होती है। प्रामाणिक गुरु से दीक्षा प्राप्त करके उसे सभी प्रकार के पापकर्मों का, यथा

अवैध मैथुन, मद्यपान, घृत क्रीड़ा तथा मांसाहार का परित्याग कर देना चाहिए।

इस श्लोक में *उचिताहारः* शब्द भी महत्त्वपूर्ण है। *उचित* का अर्थ है उपयुक्त। मनुष्य को उपयुक्त भोजन ही करना चाहिए। जिस तरह सुअर विष्टा के लिए दौड़ता है, उस तरह हमें भोजन के पीछे नहीं पड़ना चाहिए। *भगवद्गीता* (१७.८) में मनुष्य के भोज्य पदार्थों का सात्त्विक आहार के शीर्षक से वर्णन किया गया है। मनुष्य को रजो तथा तमोगुणी भोजन नहीं करना चाहिए। यही *उचिताहार* या उपयुक्त भोजन करना है। जो लोग सदैव मांस खाते या मद्य पीते हैं, जो रजो तथा तमो गुणों का आहार है उन्हें इन वस्तुओं का त्याग कर देना चाहिए जिससे उनकी वास्तविक चेतना जाग्रत हो सके। इससे मनुष्य शान्त तथा तरोताजा हो सकता है। यदि कोई अशान्त या थका हुआ रहे तो ईश्वर-ज्ञान को नहीं समझ सकता। *श्रीमद्भागवत* (१.२.२०) में कहा गया है—

एवं प्रसन्नमनसो भगवद्भक्तियोगतः ।

भगवत्तत्त्वविज्ञानं मुक्तसंगस्य जायते ॥

जब तक मनुष्य रजो तथा तमोगुण के प्रभाव से मुक्त नहीं हो लेता, उसे शान्ति नहीं मिलती और बिना शान्ति के ईश्वर-ज्ञान को समझ पाना कठिन है। राजा पुरञ्जन का अपने घर लौटना मनुष्य का अपनी पूर्व चेतना में लौटने का सूचक है। यह पूर्व चेतना ही कृष्णचेतना है। जिसने अनेक पापकर्म किये हों, विशेष रूप से वन में पशुओं का वध या शिकार किया हो, उसके लिए तो कृष्ण-चेतना (भक्ति) नितान्त आवश्यक है।

आत्मानमर्हयां चक्रे धूपालेपस्त्रगादिभिः ।

साध्वलङ्कृतसर्वाङ्गो महिष्यामादधे मनः ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

आत्मानम्—अपने आप; अर्हयाम्—मानो किया जाना हो; चक्रे—किया; धूप—सुगंधित पदार्थ; आलेप—चन्दन से शरीर को पोतना; स्त्रक्—माला; आदिभिः—इत्यादि से; साधु—अच्छे स्वभाव का, सुन्दर ढंग से; अलङ्कृत—सजा हुआ; सर्व-अङ्गः—सारे शरीर पर; महिष्याम्—रानी को; आदधे—दिया, किया; मनः—ध्यान।

तत्पश्चात् राजा पुरञ्जन ने अपने शरीर में उपयुक्त आभूषण धारण किये। उसने अपने शरीर के ऊपर चन्दन का लेप किया और फूलों की माला पहनी। इस प्रकार वह पूर्णतः तरोताजा (विश्रान्त) हो गया। इसके बाद वह अपनी रानी की खोज करने लगा।

तात्पर्य : जब मनुष्य में उत्तम चेतना जगती है और वह किसी साधु पुरुष को अपना गुरु बना लेता

है, तो वह अनेक वैदिक उपदेश सुनता है, जो दर्शन, कथा, भक्तों के आख्यान तथा ईश्वर एवं भक्तों के मध्य कथोपकथन के आदान-प्रदान के रूप में होते हैं। इस प्रकार वह मन में ताजगी (नवीनता) का अनुभव करता है, जिस प्रकार सारे शरीर में चन्दन लेप करने तथा आभूषण पहनने से अनुभव होता है। इन अलंकरणों की तुलना धार्मिक तथा आत्मज्ञान से की जा सकती है। ऐसे ज्ञान से मनुष्य भौतिक जीवन से विरक्त होता है और अपने आपको *श्रीमद्भागवत*, *भगवद्गीता* तथा अन्य वैदिक साहित्य सुनने में लगाता है। इस श्लोक में प्रयुक्त *साध्व-अलंकृत* शब्द बताता है कि मनुष्य को चाहिए कि साधु पुरुषों के उपदेशों से संचित ज्ञान में लीन रहे। जिस प्रकार राजा पुरञ्जन अपनी प्राणप्रिया रानी को ढूँढने लगा उसी प्रकार साधु पुरुषों से प्राप्त किये ज्ञान से अलंकृत मनुष्य को अपनी मूल चेतना—कृष्णभावनामृत—को ढूँढने का यत्न करना चाहिए। जब तक साधु पुरुष अपने उपदेशों से कृपा नहीं दिखाते तब तक किसी के लिए कृष्णचेतना प्राप्त करना कठिन है। अतः श्रील नरोत्तमदास ठाकुर गाते हैं—*साधु-शास्त्र-गुरु-वाक्य, चित्ते करिया ऐक्य*। यदि हम साधु पुरुष बनना चाहते हैं या अपनी मूल कृष्णचेतना को प्राप्त करना चाहते हैं, तो हमें साधु, शास्त्र तथा गुरु की संगति करनी चाहिए। यही प्रक्रिया है।

तृप्तो हृष्टः सुदृप्तश्च कन्दर्पाकृष्टमानसः ।

न व्यचष्ट वरारोहां गृहिणीं गृहमेधिनीम् ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

तृप्तः—तुष्ट; हृष्टः—प्रसन्न; सु-दृप्तः—अत्यन्त गर्वित; च—भी; कन्दर्प—कामदेव से; आकृष्ट—आकर्षित; मानसः—उसका मन; न—नहीं; व्यचष्ट—प्रयत्न किया; वर-आरोहाम्—उच्चतर चेतना; गृहिणीम्—पत्नी को; गृह-मेधिनीम्—जो अपने पति को भौतिक जीवन में रखती है।

भोजन कर लेने तथा अपनी भूख और प्यास बुझा लेने के बाद पुरञ्जन को मन में कुछ प्रफुल्लता हुई। वह उच्चतर चेतना तक न पहुँच कर कामदेव द्वारा मोहित हो गया और उसे अपनी पत्नी को ढूँढने की इच्छा हुई जिसने उसे गृहस्थ जीवन में प्रसन्न कर रखा था।

तात्पर्य : यह श्लोक उन लोगों के लिए महत्वपूर्ण है, जो अपने को कृष्णचेतना तक ऊपर उठाना चाहते हैं। जब कोई भक्त गुरु से दीक्षा लेता है, तो वह अपनी आदतें बदल देता है और मांस खाना, अवैध मैथुन करना, जुआ खेलना तथा शराब पीना छोड़ देता है। शास्त्रों में सात्त्विक आहार के अन्तर्गत गेहूँ, चावल, तरकारी, फल, दूध, चीनी तथा दूध की वस्तुएँ बताई गई हैं। चावल-दाल, रोटी, तरकारी,

दूध तथा चीनी जैसे सामान्य आहार सन्तुलित होते हैं, किन्तु कभी-कभी यह देखा जाता है कि दीक्षाप्राप्त पुरुष प्रसाद के नाम पर अत्यन्त विलासी (गरिष्ठ) भोजन करता है। अपने पूर्व पापमय जीवन के कारण वह कामदेव द्वारा आकृष्ट होता है और खूब डट कर अच्छा भोजन करता है। यह स्पष्ट देखा गया है कि जब नवदीक्षित कृष्णभक्त अधिक भोजन करता है, तो उसका पतन हो जाता है। वह शुद्ध कृष्णचेतना (भक्ति) तक न उठकर कामदेव द्वारा आकृष्ट हो जाता है। तथाकथित ब्रह्मचारी स्त्री के द्वारा विचलित हो जाता है और वानप्रस्थ पुनः अपनी पत्नी से संभोग करने के लिए आकृष्ट होता है, अथवा वह किसी नई पत्नी की तलाश करने लगता है। हो सकता है कि भावनावश वह अपनी पत्नी छोड़कर भक्तों एवं गुरु की संगति में चला जाए, किन्तु अपने पूर्व पापकर्मों के कारण वह वहाँ ठहर नहीं पाता। वह कामदेव द्वारा आकृष्ट होने से, कृष्णचेतना को प्राप्त करने के बजाय नीचे गिर जाता है और इन्द्रियसुख के लिए दूसरी पत्नी ले आता है। नारद मुनि ने *श्रीमद्भागवत* (१.५.१७) में कृष्णचेतना से भौतिक जीवन में नवदीक्षित भक्त के पतन का वर्णन किया है—

*त्यक्त्वा स्वधर्मं चरणाम्बुजं हरे
 भजन्नपक्वोऽथ पतेत्ततो यदि।
 यत्र क्व वाभद्रमभूदमुष्य किं
 को वार्थ आप्तोऽभजतां स्वधर्मतः ॥*

इससे सूचित होता है कि यद्यपि नवदीक्षित भक्त अपरिपक्वता के कारण कृष्णभावनामृत से नीचे गिर सकता है, किन्तु उसकी कृष्णसेवा व्यर्थ नहीं जाती। किन्तु जो व्यक्ति गृहस्थ जीवन में अथवा तथाकथित सामाजिक एवं पारिवारिक कर्तव्यों में अडिग रहता है और कृष्णभक्ति नहीं करता उसे कोई लाभ नहीं होता। जो व्यक्ति कृष्णभावनामृत को स्वीकार करता है उसे अत्यन्त सावधान रहना चाहिए और वर्जित कार्यों से दूर रहना चाहिए जिसका उल्लेख रूप गोस्वामी ने *उपदेशामृत* में किया है—

*अत्याहार प्रयासश्च प्रजल्पो नियमाग्रहः।
 जन संगश्च लौल्यं च षड्भिर्भक्तिर्विनश्यति ॥*

नवदीक्षित भक्त को न तो ज्यादा खाना चाहिए और न ही आवश्यकता से अधिक धनसंग्रह करना चाहिए। अधिक खाना और अधिक धनसंग्रह करना *अत्याहार* कहा जाता है। ऐसे *अत्याहार* के लिए

काफी प्रयत्न करना पड़ता है। यह प्रयास कहलाता है। हो सकता है कि ऊपर-ऊपर से कोई अपने को विधि-विधानों के प्रति अत्यन्त निष्ठावान दिखाए, किन्तु साथ ही भीतर-भीतर उनके पालन करने में दृढ़ न रह सके। यह नियमाग्रह कहलाता है। अवांछित व्यक्तियों के साथ मिलने से अर्थात् जनसङ्ग से वह काम तथा लोभ से दूषित हो जाता है और भक्ति के पथ से नीचे गिर जाता है।

अन्तःपुरस्त्रियोऽपृच्छद्विमना इव वेदिषत् ।

अपि वः कुशलं रामाः सेश्वरीणां यथा पुरा ॥ १४ ॥

शब्दार्थ

अन्तः-पुर—रनिवास की; स्त्रियः—स्त्रियों से; अपृच्छत्—पूछा; विमनाः—अत्यन्त उत्सुक होकर; इव—मानो; वेदिषत्—हे राजा प्राचीनबर्हि; अपि—क्या; वः—तुम्हारी; कुशलम्—कुशल मंगल; रामाः—हे सुन्दरियो; स-ईश्वरीणाम्—अपनी मालकिन या स्वामिनी सहित; यथा—जिस तरह; पुरा—पहले।

उस समय राजा पुरञ्जन कुछ-कुछ उत्सुक हुआ और उसने रनिवास की स्त्रियों से पूछा: हे सुन्दरियो, तुम सब अपनी स्वामिनी सहित पहले के समान प्रसन्न तो हो?

तात्पर्य : इस श्लोक में वेदिषत् शब्द राजा प्राचीनबर्हि का सूचक है। जब मनुष्य भक्तों की संगति में आकर अपने में नवीनता पाता है और उसमें कृष्णभक्ति जगती है, तो वह अपने मनोरथ से सलाह लेता है—अर्थात् सोचता, अनुभव करता तथा चाहता है—और यह निश्चय करता है कि वह भौतिक कार्यों में लौट जाये या कि आध्यात्मिक चेतना में अडिग रहे। कुशलम् शब्द जो कुछ शुभ है उसका सूचक है। यदि मनुष्य भगवान् विष्णु की भक्ति में लग जाये तो वह अपने घर को पूर्णतः शुभ बना सकता है। जब कोई विष्णु भक्ति के अतिरिक्त अन्य किसी कार्य में लगता है, अर्थात् भौतिक कार्यों में लगता है, तो वह सदैव चिन्ताओं से ग्रस्त रहता है। विचारवान् व्यक्ति को चाहिए कि अपने मन से सलाह ले और तय करे कि मन की इन प्रवृत्तियों का किस प्रकार उपयोग किया जाये। यदि कोई श्रीकृष्ण के विषय में ही निरन्तर सोचता है, उनकी सेवा करने का विचार करता है और उन्हीं की आज्ञा पालन करने की कामना करता है, तो यह समझना चाहिए कि उसने अपनी बुद्धि से अच्छी शिक्षा प्राप्त की है, क्योंकि बुद्धि तो माता है। यद्यपि राजा विश्रान्त हो चुका था फिर भी उसने अपनी पत्नी के विषय में पूछा। इस तरह वह सलाह ले रहा था, सोच रहा था और चाह रहा था कि वह अपनी स्थिर उत्तम चेतना की ओर फिर से कैसे लौटे। मन सलाह दे सकता है कि विषय-भोग से मनुष्य प्रसन्न रह सकता है, किन्तु जब वह कृष्णचेतना में आगे बढ़ जाता है, तो भौतिक कार्यों में उसे सुख नहीं

मिलता। इसकी व्याख्या भगवद्गीता (२.५९) में की गई है—

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः ।

रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते ॥

“देहधारी जीव को इन्द्रिभोग से रोका जा सकता है, परन्तु विषयासक्ति बनी रहती है। किन्तु उच्च रस के अनुभव द्वारा ऐसे व्यापारों को त्यागकर वह चेतना (बुद्धियोग) में स्थिर हो जाता है।” जब तक मनुष्य अपने को भक्ति के श्रेष्ठ व्यापार में न लगा ले वह इन्द्रिय-विषयों से विरक्त नहीं हो सकता। परं दृष्ट्वा निवर्तते। कोई तभी भौतिक कार्यों को छोड़ सकता है जब वह सचमुच भक्ति करने में लग जाये।

न तथैतर्हि रोचन्ते गृहेषु गृहसम्पदः

यदि न स्याद्गृहे माता पत्नी वा पतिदेवता ।

व्यङ्गे रथ इव प्राज्ञः को नामासीत् दीनवत् ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; तथा—पूर्ववत्; एतर्हि—इस क्षण; रोचन्ते—अच्छे लगते हैं; गृहेषु—घर में; गृह-सम्पदः—घरेलू साज-सामान; यदि—अगर; न—नहीं; स्यात्—हो; गृहे—घर में; माता—माँ; पत्नी—भार्या; वा—अथवा; पति-देवता—पति-परायण; व्यङ्गे—पहियों से रहित; रथे—रथ में; इव—सदृश; प्राज्ञः—विद्वान् मनुष्य; कः—ऐसा कौन है; नाम—निस्सन्देह; आसीत्—बैठेगा; दीन-वत्—दीन के समान।

राजा पुरञ्जन ने कहा : मेरी समझ में नहीं आ रहा कि मेरे घर का सारा साज-सामान पहले की भाँति मुझे अच्छा क्यों नहीं लग रहा ? मैं सोचता हूँ कि यदि घर में माता अथवा पति-परायण पत्नी न हो तो घर पहियों से विहीन रथ की तरह प्रतीत होता है। ऐसा कौन मूर्ख है, जो ऐसे व्यर्थ के रथ पर बैठेगा ?

तात्पर्य : परम राजनीतिज्ञ चाणक्य पण्डित ने कहा है—

माता यस्य गृहे नास्ति भार्या चाप्रियवादिनी ।

अरण्यं तेन गन्तव्यं यथारण्यं तथा गृहम् ॥

“यदि किसी के घर पर अपनी माता या प्रियवादिनी पत्नी न हो तो उसे घर छोड़कर जंगल चले जाना चाहिए, क्योंकि उसके लिए जंगल तथा घर में कोई अन्तर नहीं होता।” वास्तविक माता भगवद्भक्ति है और असली पत्नी वह है, जो भक्ति के कार्यों में अपने पति की सहायता करती है।

सुखी घर के लिए ये दोनों बातें आवश्यक हैं।

वास्तव में स्त्री को पुरुष की शक्ति माना जाता है। ऐतिहासिक दृष्टि से प्रत्येक महापुरुष के पीछे या तो माता रही हैं या उसकी पत्नी। यदि घर में अच्छी पत्नी तथा माता हों तो गृहस्थ जीवन सुखी रहता है। ऐसी दशा में गृहस्थी के सारे कार्य तथा घर का सारा साज-सामान मन को भाता है। भगवान् चैतन्य महाप्रभु को अच्छी माता तथा प्रियवादिनी पत्नी दोनों प्राप्त थीं और वे अपने घर में अत्यन्त सुखी थे। फिर भी सारी मानवता के लाभ के लिए उन्होंने संन्यास ले लिया और अपनी माता तथा पत्नी दोनों को त्याग दिया। दूसरे शब्दों में, घर पर सुखी रहने के लिए आवश्यक है कि माता तथा पत्नी दोनों रहें, अन्यथा गृहस्थ जीवन कोई अर्थ नहीं रखता। जब तक मनुष्य धर्म के क्षेत्र में बुद्धि द्वारा पथ-प्रदर्शन प्राप्त नहीं करता और भगवान् की भक्ति नहीं करता तब तक उसका घर सन्त पुरुषों को प्रिय नहीं हो सकता। दूसरे शब्दों में, यदि किसी के अच्छी माता या अच्छी पत्नी हो तो, जब तक नितान्त आवश्यक न हो, संन्यास लेने की आवश्यकता नहीं है, जैसाकि भगवान् चैतन्य महाप्रभु के साथ हुआ।

क्व वर्तते सा ललना मज्जन्तं व्यसनार्णवे ।

या मामुद्धरते प्रज्ञां दीपयन्ती पदे पदे ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

क्व—कहाँ; वर्तते—इस समय है; सा—वह; ललना—स्त्री; मज्जन्तम्—डूबते हुए; व्यसन-अर्णवे—संकट के सागर में; या—जो; माम्—मुझको; उद्धरते—उबारती है; प्रज्ञाम्—सद्बुद्धि; दीपयन्ती—जागृत करके; पदे पदे—प्रत्येक पग पर।

कृपया मुझे उस सुन्दरी का पता बताओ जो मुझे सदैव संकट के समुद्र में डूबने से उबारती है। वह मुझे पग-पग पर सद्बुद्धि प्रदान करके बचाती है।

तात्पर्य : अच्छी पत्नी तथा सद्बुद्धि में कोई अन्तर नहीं होता। जिसके सद्बुद्धि होती है, वह ठीक से विचार-विमर्श कर सकता है और अपने आपको संकटों से बचा सकता है। इस संसार में पग-पग पर संकट है। श्रीमद्भागवत (१०.१४.५८) में कहा गया है—पदं-पदं यद् विपदां न तेषां। यह भौतिक संसार वास्तव में बुद्धिमान लोगों या भक्तों के रहने का स्थान नहीं है, क्योंकि पग-पग पर संकट हैं। भक्त के लिए तो वैकुण्ठ ही असली स्थान है, जहाँ न चिन्ता है और न संकट। सद्बुद्धि का अर्थ है कृष्णभक्त होना। श्रीचैतन्य-चरितामृत में कहा गया है—कृष्ण ये भजे से बड़ चतुर। जब तक कोई कृष्णभक्त नहीं बनता उसे बुद्धिमान (चतुर) नहीं कहा जा सकता।

यहाँ हम देखते हैं कि राजा पुरञ्जन अपनी सुभार्या को खोज रहा है, जो उसे इस संसार में मिलने वाली संकटमय परिस्थितियों से बचाती रहती थी। जैसा पहले कहा जा चुका है असली पत्नी धर्मपत्नी होती है, जिसे धार्मिक नियमों के अनुसार स्वीकार किया गया हो। धर्मपत्नी से उत्पन्न सन्तानें पिता की सम्पत्ति की उत्तराधिकारी होती हैं, किन्तु अविवाहिता पत्नी से उत्पन्न सन्तान को पिता की सम्पत्ति पर कोई अधिकार नहीं होता। धर्मपत्नी शब्द पतिव्रता पत्नी का भी सूचक है। पतिव्रता पत्नी वह है, जो विवाह के पूर्व किसी भी पुरुष से कोई सम्बन्ध नहीं रखती। यदि एक बार स्त्री को अपनी युवावस्था में सभी प्रकार के पुरुषों से मिलने-जुलने दिया जाता है, तो उसका पतिव्रता रह पाना कठिन हो जाता है। सामान्यतः वह पतिव्रता नहीं रह सकती। जब मक्खन को आग के निकट लाया जाता है, तो वह पिघल जाता है। स्त्री अग्नि के समान है और पुरुष मक्खन के समान। किन्तु यदि मनुष्य को पतिव्रता पत्नी मिल जाये जो धार्मिक विवाह संस्कार के द्वारा स्वीकृत की गई है, तो वह संकटमय परिस्थितियों में अत्यधिक सहायक हो सकती है। वास्तव में ऐसी पत्नी समस्त सद्बुद्धि का उद्गम है। ऐसी पत्नी होने से यदि परिवार भगवद्भक्ति करता है, तो वह घर वास्तव में गृहस्थाश्रम बन जाता है।

रामा ऊचुः

नरनाथ न जानीमस्त्वत्प्रिया यद्व्यवस्यति ।

भूतले निरवस्तारे शयानां पश्य शत्रुहन् ॥ १७ ॥

शब्दार्थ

रामा: ऊचुः—स्त्रियों ने कहा; नर-नाथ—हे राजा; न जानीमः—हम नहीं जानतीं; त्वत्-प्रिया—तुम्हारी प्रिया ने; यत् व्यवस्यति—क्यों इस प्रकार का जीवन धारण कर रहा है; भू-तले—पृथ्वी पर; निरवस्तारे—बिना बिस्तर के; शयानाम्—लेटी हुई; पश्य—देखो; शत्रु-हन्—हे शत्रुओं का वध करने वाले।

सभी स्त्रियों ने राजा को सम्बोधित किया: हे प्रजा के स्वामी, हम यह नहीं जानतीं कि आपकी प्रिया ने क्यों ऐसी स्थिति बना रखी है। हे शत्रुओं के संहारक ! कृपया देखें। वे बिना बिस्तर के जमीन पर लेटी हुई हैं। हम नहीं समझ पा रही कि वे ऐसा क्यों कर रही हैं।

तात्पर्य : जब मनुष्य विष्णुभक्ति से रहित होता है, तो वह अनेक पापकर्म करता है। राजा पुरञ्जन ने घर छोड़कर अपनी पत्नी की उपेक्षा की और स्वयं पशुओं के वध में लग गया। ऐसी स्थिति समस्त भौतिकतावादी मनुष्यों की है। वे अपनी विवाहिता धर्मपत्नी की परवाह नहीं करते। वे पत्नी को अपनी इन्द्रितृप्ति का साधन मानते हैं, भक्ति का नहीं। निर्बाध विषयी जीवन बिताने के लिए कर्मी कठोर श्रम

करते हैं। उनका दृढ़ विश्वास है कि किसी भी स्त्री के साथ संभोग करके उसे धन देकर चुकता कर दो, मानो वह कोई व्यापार की वस्तु हो। इस प्रकार वे ऐसी भौतिक उपलब्धि के लिए कठोर श्रम करते हैं। ऐसे लोग अपनी सद्बुद्धि खो चुके होते हैं। उन्हें अपने अन्तःकरण में बुद्धि की खोज करनी चाहिए। जिस व्यक्ति की शास्त्र के नियमों के अनुसार विवाहित धर्मपत्नी नहीं होती वह सदैव मोहग्रस्त बुद्धि वाला होता है।

राजा पुरञ्जन की पत्नी भूमि पर लेटी थी, क्योंकि पति द्वारा उसकी उपेक्षा हुई थी। वास्तव में पति द्वारा स्त्री की सदैव रक्षा होनी चाहिए। हम सभी कहते हैं कि लक्ष्मी जी नारायण के वक्षस्थल पर विद्यमान हैं। दूसरे शब्दों में, पत्नी को अपने पति की प्यारी और सुरक्षिता होना चाहिए। जिस प्रकार लोग धन बचाकर उसे अपने पास सुरक्षित रखते हैं, उसी तरह पत्नी की सुरक्षा अपने निजी देखरेख में की जानी चाहिए। जिस प्रकार बुद्धि सदैव हृदय के भीतर रहती है, उसी प्रकार साध्वी पत्नी को अपने प्रिय पति के हृदय में सदैव स्थान मिलना चाहिए। पति तथा पत्नी का यही वास्तविक सम्बन्ध है। इसीलिए पत्नी अर्धांगिनी कहलाती हैं। कोई एक पाँव, एक हाथ या शरीर के किसी एक अंग से काम नहीं चला सकता। इसी प्रकार पति तथा पत्नी को प्रकृति के व्यवस्था के अनुसार एकसाथ रहना चाहिए। निम्न योनियों में, विशेष रूप से पक्षियों तथा पशुओं में नर तथा मादा साथ-साथ रहते हैं। यह प्राकृतिक व्यवस्था है। इसी प्रकार मानव जीवन में पति तथा पत्नी का एकसाथ रहना आदर्श जीवन है। घर को भक्ति का स्थान होना चाहिए, पत्नी को पतिव्रता होना चाहिए और अनुष्ठान द्वारा स्वीकार की गई होना चाहिए। इस प्रकार से मनुष्य घर में सुखी रह सकता है।

नारद उवाच

पुरञ्जनः स्वमहिषीं निरीक्ष्यावधुतां भुवि ।
तत्सङ्गोन्मथितज्ञानो वैक्लव्यं परमं ययौ ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

नारदः उवाच—नारद मुनि ने कहा; पुरञ्जनः—राजा पुरञ्जन; स्व-महिषीम्—अपनी रानी को; निरीक्ष्य—देखकर; अवधुताम्—साधु की तरह; भुवि—पृथ्वी पर; तत्—उसके; सङ्ग—साथ से; उन्मथित—प्रोत्साहित; ज्ञानः—जिसका ज्ञान; वैक्लव्यम्—मोहग्रस्त; परमम्—परम; ययौ—हो गया।

महर्षि नारद ने कहा : हे राजा प्राचीनबर्हि, जैसे ही राजा पुरञ्जन ने अपनी रानी को अवधूत की भाँति पृथ्वी पर लेटे देखा, वह तुरन्त मोहग्रस्त हो गया।

तात्पर्य : इस श्लोक का *अवधुताम्* शब्द महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि यह उस साधु के लिए प्रयुक्त होता है, जिसे अपने शरीर की सुधि-बुधि नहीं रहती। चूँकि रानी बिना बिस्तर के अस्त-व्यस्त वस्त्रों सहित जमीन पर लेटी थी, इसलिए राजा पुरञ्जन अत्यधिक दुखी हुआ। दूसरे शब्दों में, उसे इसका पश्चात्ताप हुआ कि उसने अपनी बुद्धि की उपेक्षा की है और स्वयं जंगल जाकर पशुवध में व्यस्त रहा है। तात्पर्य यह कि जब मनुष्य अपनी बुद्धि की उपेक्षा करता है या उससे विलग हो जाता है, तो वह पापकर्म में प्रवृत्त होता है। अपनी सद्बुद्धि या कृष्णचेतना की उपेक्षा के कारण वह मोहग्रस्त होता है और पापकर्मों में लग जाता है। जब इसका एहसास होता है, तो वह पश्चात्ताप करता है। ऐसे पश्चात्ताप का वर्णन नरोत्तमदास ठाकुर ने किया है—

हरि-हरि विफले जनम गोडाइनु

मनुष्य-जन्म पाइया; राधा कृष्ण ना भजिया

जानिया शुनिया विष खाइनु

वे कहते हैं कि मुझे अपना मनुष्य-जन्म बर्बाद करने तथा जानबूझ कर विष पीने का पछतावा है। कृष्ण-भक्त न बनकर मनुष्य जानबूझ कर भौतिक जीवन का विषपान करता है। सारांश यह है कि अपनी सतीसाध्वी पत्नी के अभाव में या यह कहें कि जब वह अपनी बुद्धि खो देता है और कृष्णभक्ति नहीं करता तो मनुष्य निश्चित रूप से पापकर्म में प्रवृत्त होता है।

सान्त्वयन्श्लक्ष्णया वाचा हृदयेन विदूयता ।

प्रेयस्याः स्नेहसंरम्भलिङ्गमात्मनि नाभ्यगात् ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

सान्त्वयन्—समझाते हुए; श्लक्ष्णया—मीठे; वाचा—वचनों से; हृदयेन—हृदय से; विदूयता—अत्यधिक पछताते हुए; प्रेयस्याः—अपनी प्रेयसी के; स्नेह—प्यार से; संरम्भ—क्रोध का; लिङ्गम्—लक्षण; आत्मनि—हृदय में; न—नहीं; अभ्यगात्—उठा।

दुखित हृदय से राजा अपनी पत्नी से अत्यन्त मीठे शब्द कहने लगा। यद्यपि वह दुखी था और उसे प्रसन्न करने का प्रयास कर रहा था, किन्तु उसने अपनी प्राणप्रिया पत्नी के हृदय में क्रोध का एक भी लक्षण नहीं देखा।

तात्पर्य : राजा को अत्यन्त दुख हुआ कि वह अपनी पत्नी को अकेले छोड़ पापकर्म में प्रवृत्त होने जंगल गया था। जब कोई अपने पापकर्मों अर्थात् कृष्ण-भक्ति तथा सद्बुद्धि को छोड़ने के लिए पश्चात्ताप

करता है, तो भवसागर के बन्धनों से छुटकारा पाने का उसका मार्ग प्रशस्त हो जाता है। श्रीमद्भागवत (५.५.५) में कहा गया है—*पराभवस्तावदबोधजातो यावन्न जिज्ञासत आत्मतत्त्वम्*। जब मनुष्य अपनी कृष्णभावना तथा आत्म-साक्षात्कार के प्रति रुचि खो बैठता है, तो वह पापकर्म में लगता है। कृष्ण-भक्ति से विहीन जीवन के सारे कार्य वृथा हैं और जीवन को पराजय और दुरुपयोग की ओर ले जाते हैं। स्वाभाविक है कि जिसे कृष्ण-भक्ति प्राप्त होती है, वह मनुष्य-जीवन के पूर्व पापकर्मों के लिए पश्चात्ताप करता है। इसी विधि से भौतिक जीवन में अविद्या के चंगुल से छुटकारा पाया जा सकता है।

अनुनिन्द्येऽथ शनकैर्वीरोऽनुनयकोविदः ।

पस्पर्श पादयुगलमाह चोत्सङ्गलालिताम् ॥ २० ॥

शब्दार्थ

अनुनिन्द्ये—मनाना आरम्भ किया; अथ—इस प्रकार; शनकैः—धीरे-धीरे; वीरः—वीर; अनुनय-कोविदः—मनाने में निपुण; पस्पर्श—स्पर्श किया; पाद-युगलम्—दोनों पाँव; आह—कहा; च—भी; उत्सङ्ग—गोद में; लालिताम्—इस प्रकार आलिंगन करते हुए।

चूँकि राजा मनाने में अत्यन्त निपुण था, अतः उसने रानी को धीरे-धीरे मनाना प्रारम्भ किया। पहले उसने उसके दोनों पाँव छुये, फिर उसका आलिंगन किया और अपनी गोद में बैठाकर इस प्रकार कहना प्रारम्भ किया।

तात्पर्य : मनुष्य को सर्वप्रथम अपने पूर्वकर्मों के लिए पश्चात्ताप करके अपनी कृष्ण-भक्ति जाग्रत करनी होती है। जिस प्रकार राजा पुरञ्जन ने अपनी पत्नी को मनाना प्रारम्भ किया, उसी प्रकार जानबूझ कर मनुष्य को कृष्णभक्ति के पद तक पहुँचने का प्रयत्न करना चाहिए। ऐसा करने के लिए गुरु के पाद-पद्मों का स्पर्श करना चाहिए। स्वतः प्रयास से कृष्णभक्ति प्राप्त नहीं हो सकती। अतः मनुष्य को चाहिए कि स्वरूपसिद्ध कृष्णभक्त के पास पहुँचकर उसके चरणकमलों का स्पर्श करे। इसीलिए प्रह्लाद महाराज (भागवत ७.५.३२) कहते हैं—

नैषां मतिस्तावदुरुक्रमाङ्घ्रि

स्पृशत्यनर्थापगमो यदर्थः ।

महीयसां पादरजोऽभिषेकं

निष्किञ्चनानां न वृणीत यावत् ॥

जब तक मनुष्य ऐसे व्यक्ति के चरणकमल की धूल को अपने मस्तक पर धारण नहीं करता जो महात्मा या भक्त बन चुका है तब तक उसका कृष्ण-भक्ति के द्वार तक प्रवेश नहीं होता। यह आत्मसमर्पण का शुभारम्भ है। भगवान् कृष्ण चाहते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति उनकी शरण में आये और यह आत्मसमर्पण का कार्य तब शुरू होता है जब मनुष्य प्रामाणिक गुरु के चरण-स्पर्श करता है। निष्ठापूर्वक गुरु की सेवा करने से ही कृष्णभक्तिमय जीवन का शुभारम्भ होता है। गुरु के चरण-स्पर्श करने का अर्थ है मिथ्या गर्व का त्याग और भौतिक जगत में अपने पद पर व्यर्थ न फूलना। जो लोग अपने उच्च स्थान के कारण वृथा ही भौतिक जीवन के अंधकार में रहते हैं—जैसे तथाकथित वैज्ञानिक एवं विचारक—वे वास्तव में नास्तिक हैं। वे प्रत्येक वस्तु के चरम कारण को नहीं जानते। यद्यपि वे मोहग्रस्त रहते हैं, किन्तु वे ऐसे व्यक्ति के चरणकमलों में आत्मसमर्पण करने में हिचकते हैं, जो वस्तुओं को उनके सही-सही रूप में जानता है। दूसरे शब्दों में, केवल कोरे ज्ञान से कृष्णभक्ति जाग्रत नहीं की जा सकती। मनुष्य को प्रामाणिक गुरु की शरण में जाना ही होगा। इसी विधि से उसे सहायता मिल सकती है।

पुरञ्जन उवाच

नूनं त्वकृतपुण्यास्ते भृत्या येष्वीश्वराः शुभे ।

कृतागःस्वात्मसात्कृत्वा शिक्षादण्डं न युञ्जते ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

पुरञ्जनः उवाच—पुरञ्जन ने कहा; नूनम्—निश्चय ही; तु—तब; अकृत-पुण्याः—जो पुण्यात्मा नहीं है, अभागा; ते—वे; भृत्याः—दास; येषु—जिनको; ईश्वराः—स्वामी; शुभे—हे शुभ लक्षणों वाली; कृत-आगःसु—पाप करके; आत्मसात्—अपना कर; कृत्वा—करके; शिक्षा—उपदेश के रूप में; दण्डम्—दण्ड; न युञ्जते—नहीं देते।

राजा पुरञ्जन ने कहा : हे सुन्दरी, जब स्वामी किसी मनुष्य को दास रूप में स्वीकार तो कर लेता है, किन्तु उसके अपराधों के लिए उसे दण्ड नहीं देता तो उस दास को समझना चाहिए कि वह अभागा है।

तात्पर्य : वैदिक सभ्यता के अनुसार घरेलू पशुओं तथा दासों के साथ अपने पुत्र के तुल्य व्यवहार करना चाहिए। कभी-कभी घरेलू पशु तथा बालक किसी बदले की भावना से नहीं, अपितु प्यारवश दण्डित किये जाते हैं। इसी तरह कभी-कभी स्वामी अपने दास को रास्ते पर लाने के लिए किसी बदले की भावना से नहीं वरन् प्यारवश दण्ड देता है। इस प्रकार राजा पुरञ्जन ने अपनी पत्नी द्वारा दिये गये

दण्ड को अपने ऊपर किया गया अनुग्रह समझा। उसने अपने को रानी का आज्ञाकारी सेवक माना। वह उस पर पापकर्म करने—जंगल में शिकार करने तथा उसे घर पर छोड़ देने—के लिए नाराज थी। राजा पुरञ्जन ने इस दण्ड को अपनी पत्नी के वास्तविक प्यार के रूप में ग्रहण किया। इसी प्रकार जब मनुष्य को ईश्वर की इच्छा से प्रकृति के नियमों द्वारा दण्डित होना पड़ता है, तो उसे विचलित नहीं होना चाहिए। वास्तविक भक्त इसी तरह सोचता है। जब भक्त किसी विषम स्थिति को प्राप्त होता है, तो वह इसे ईश्वर का अनुग्रह मानता है—

तत्तेऽनुकम्पां सुसमीक्षमाणो

भुञ्जान एवात्मकृतं विपाकम् ।

हद्वाग्वपुर्भिर्विदधत्रमस्ते

जीवेत यो मुक्तिपदे स दायभाक् ॥

(भागवत १०.१४.८)

इस श्लोक से पता चलता है कि भक्त जीवन की पराजयों को भगवान् के वरदान के रूप में मानता है और यह सोचकर भगवान् को अधिक नमस्कार करता है तथा प्रार्थना करता है कि उसके पूर्व दुष्कर्मों का यह हल्का दण्ड मिल रहा है। यदि कोई त्रुटि करे तो सरकार या ईश्वर द्वारा प्रदत्त दण्ड वास्तव में कल्याणकारी होता है। *मनुसंहिता* में कहा गया है कि जब राजा किसी हत्यारे को मृत्यु दण्ड देता है, तो उसे दयालु समझना चाहिए क्योंकि हत्यारा इस जीवन में दण्डित होकर पापकर्म से मुक्त हो जाता है और अगले जीवन में वह समस्त पापों से मुक्त हो कर जन्म लेता है। यदि कोई स्वामी द्वारा दिये गये दण्ड को पुरस्कार मानता है, तो वह इतना बुद्धिमान हो जाता है कि फिर कभी उस दुष्कर्म को नहीं करता।

परमोऽनुग्रहो दण्डो भृत्येषु प्रभुणार्पितः ।

बालो न वेद तत्तन्वि बन्धुकृत्यममर्षणः ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

परमः—परम; अनुग्रहः—कृपा; दण्डः—दण्ड; भृत्येषु—दासों पर; प्रभुणा—स्वामी द्वारा; अर्पितः—दिया गया; बालः—मूर्ख; न—नहीं; वेद—जानता है; तत्—उस; तन्वि—हे तन्वंगी; बन्धु-कृत्यम्—मित्र का कर्तव्य; अमर्षणः—क्रुद्ध।

हे तन्वंगी, जब कोई स्वामी अपने सेवक को दण्ड देता है, तो उसे परम अनुग्रह समझ कर

स्वीकार कर लेना चाहिए। जो क्रुद्ध होता है, वह अत्यन्त मूर्ख है और वह यह नहीं जानता कि ऐसा करना तो उसके मित्र का कर्तव्य होता है।

तात्पर्य : कहा जाता है कि यदि मूर्ख को अच्छी बात भी सिखाई जाये तो वह उसे नहीं मानता। उल्टे वह क्रुद्ध होता है। ऐसे क्रोध की उपमा सर्प-विष से दी जाती है, क्योंकि जब साँप को दूध और केला खिलाया जाता है, तो इससे उसका विष बढ़ता ही है। दयालु और नम्र होने की बजाय अच्छी वस्तुएँ खिलाये जाने पर साँप अपना विष बढ़ाता है। इसी प्रकार मूर्ख को उपदेश देने पर वह अपने को सुधारने के बजाय उल्टे क्रुद्ध होता है।

सा त्वं मुखं सुदति सुष्वनुरागभार-

व्रीडाविलम्बविलसद्धसितावलोकम् ।

नीलालकालिभिरुपस्कृतमुन्नसं नः

स्वानां प्रदर्शय मनस्विनि वल्गुवाक्यम् ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

सा—वह (तुम, मेरी पत्नी); त्वम्—तुम; मुखम्—अपना मुँह; सु-दति—सुन्दर दाँतों वाली; सु-भ्रु—सुन्दर भौंहों वाली; अनुराग—प्यार, आसक्ति से; भार—बोझिल; व्रीडा—लज्जा; विलम्ब—नीचे झुके; विलसत्—चमकते हुए; हसित—हँसते हुए; अवलोकम्—चितवन से; नील—नीले; अलक—बाल से युक्त; अलिभिः—भौंहों के समान; उपस्कृतम्—इस प्रकार सुन्दर बनकर; उन्नसम्—उठी हुई (उन्नत) नाक से युक्त; नः—मुझको; स्वानाम्—तुम्हारा अपना हूँ; प्रदर्शय—दिखलाओ; मनस्विनि—हे विचारमग्न सुन्दरी; वल्गु-वाक्यम्—मीठे वचनों से।

हे प्रिये, तुम अत्यन्त सुन्दर दाँतों वाली हो। तुम अपने आकर्षक अंगों के कारण अत्यन्त मनस्वी लगती हो। तुम अपना क्रोध त्याग कर मुझ पर कृपा करो और अत्यन्त प्यार से तनिक मुस्कराओ। जब मैं तुम्हारे सुन्दर मुखमण्डल की मुसकान, तुम्हारे नीले रंग वाले बाल एवं तुम्हारी उन्नत नासिका को देखूँगा तथा तुम्हारे मीठे वचनों को सुनूँगा तो तुम मुझे और भी सुन्दर लगोगी और अपनी ओर आकृष्ट करती प्रतीत हो ओगी। तुम मेरी अत्यन्त आदरणीया स्वामिनी हो।

तात्पर्य : स्त्रैण पति अपनी पत्नी की बाह्य सुन्दरता से आकृष्ट होकर उसका आज्ञाकारी दास बनना चाहता है। इसीलिए श्रीपाद शंकराचार्य ने उपदेश दिया है कि हमें स्त्री के हाड़-मांस से आकृष्ट नहीं होना चाहिए। इस सम्बन्ध में एक कहानी कही जाती है कि एक बार एक मनुष्य किसी स्त्री की सुन्दरता पर आसक्त हो गया और इस तरह प्रेम दर्शाने लगा कि उस स्त्री ने उसे अपनी सुन्दरता के सारे

अवयवों को दिखाने की योजना बनाई। उस स्त्री ने उस मनुष्य से भेंट करने की, एक तिथि निश्चित की और उस दिन उसने जुलाब ले लिया जिससे रात-दिन वह केवल दस्त करती रही और सारा मल एक पात्र में संग्रह करती रही। दूसरी रात्रि को जब वह व्यक्ति उस स्त्री से मिलने आया तो वह उसे अत्यन्त कुरूप तथा दुर्बल दिखी। अतः उस व्यक्ति ने पूछा कि वह स्त्री कहाँ है, जिसके साथ उस की नियुक्ति थी? इस पर उस स्त्री ने कहा कि मैं ही वह स्त्री हूँ। उस व्यक्ति को विश्वास नहीं हुआ क्योंकि उसे नहीं पता था कि उस का सौन्दर्य उसके जुलाब लेने के कारण लुप्त हो चुका था जिससे वह दिन रात दस्त करती रही थी जब वह पुरुष उस से तर्क करने लगा, तो उस स्त्री ने पुनः कहा कि वह सुन्दर नहीं लग रही, क्योंकि उसकी सुन्दरता के अवयव उससे विलग हो चुके हैं। जब उस पुरुष ने पूछा कि वे अवयव किस प्रकार विलग हो सके तो स्त्री ने कहा—“चलिए, आपको दिखा दूँ।” उसने उसे मल तथा वमन से युक्त वह पात्र दिखाया। इस प्रकार मनुष्य को पता चला कि सुन्दर स्त्री केवल रक्त, मल, मूत्र तथा इसी प्रकार के घृणित अवयवों से बनी हुई है। यह वास्तविकता है, किन्तु मनुष्य मोहक सौंदर्य से आकृष्ट होकर माया का शिकार बनता रहता है।

राजा पुरञ्जन ने अपनी पत्नी से प्रार्थना की कि वह पूर्व सुन्दरता को प्राप्त हो। वह उसे उसी प्रकार सचेष्ट कर रहा था जिस प्रकार जीवात्मा अपनी मूल चेतना को जाग्रत करता है, जो अत्यन्त सुन्दर होती है। रानी के समस्त सुन्दर अंगों की तुलना कृष्णभक्ति के सुन्दर स्वरूप से की जा सकती है। जब मनुष्य मूल कृष्णचेतना को लौटता है, तो वह स्थिर हो जाता है और उसका जीवन सफल हो जाता है।

तस्मिन्दधे दममहं तव वीरपत्नि

योऽन्यत्र भूसुरकुलात्कृतकिल्बिषस्तम् ।

पश्ये न वीतभयमुन्मुदितं त्रिलोक्या-

मन्यत्र वै मुररिपोरितरत्र दासात् ॥ २४ ॥

शब्दार्थ

तस्मिन्—उसको; दधे—दूँगा; दमम्—दण्ड; अहम्—मैं; तव—तुमको; वीर-पत्नि—हे वीर की पत्नी; यः—जो; अन्यत्र—इसके अतिरिक्त; भू-सुर-कुलात्—इस पृथ्वी पर देवताओं के कुल से (ब्राह्मणों से); कृत—किया हुआ; किल्बिषः—अपराध; तम्—उसको; पश्ये—मैं देखता हूँ; न—नहीं; वीत—रहित; भयम्—डर; उन्मुदितम्—चिन्तारहित; त्रि-लोक्याम्—तीनों लोकों में; अन्यत्र—और कहीं; वै—निश्चय ही; मुर-रिपोः—मुर के शत्रु (कृष्ण) का; इतरत्र—दूसरी ओर; दासात्—दास की अपेक्षा।

हे वीरपत्नी, मुझे बताओ कि क्या किसी ने तुम्हें अपमानित किया है? मैं ऐसे व्यक्ति को

यदि वह ब्राह्मण कुल का नहीं है, दण्ड देने के लिए तैयार हूँ, मैं मुररिपु (श्रीकृष्ण) के दास के अतिरिक्त तीनों लोकों में किसी को भी क्षमा नहीं करूँगा। तुम्हें अपमानित करके कोई स्वच्छन्दतापूर्वक विचरण नहीं कर सकता, क्योंकि मैं उसे दण्ड देने के लिए तैयार हूँ।

तात्पर्य : वैदिक सभ्यता के अनुसार ब्राह्मण तथा, जो मुरा नामक असुर का शत्रु होने के कारण मुरद्विष कहलाने वाले कृष्ण का भक्त कहलाते हैं, राज्य के विधि-विधानों से बँधे नहीं होते। दूसरे शब्दों में, ब्राह्मणों तथा वैष्णवों के अतिरिक्त राज्य के नियमों को भंग करने वाला प्रत्येक व्यक्ति दण्डनीय है। ब्राह्मण तथा वैष्णव नियम-भंग से उत्पन्न होने वाले कर्मफलों से भली-भाँति परिचित रहते हैं, अतः वे राज्य या प्रकृति के नियमों का उल्लंघन नहीं करते। यदि कभी वे नियमों की अवज्ञा करते हुए प्रतीत भी हों तो भी वे राजा द्वारा दण्डनीय नहीं होते। यही उपदेश नारद मुनि ने राजा प्राचीनबर्हिषत् को दिया। राजा पुरञ्जन राजा प्राचीनबर्हिषत् का प्रतिनिधि था। नारद मुनि राजा प्राचीनबर्हिषत् को उनके पूर्वज महाराज पृथु का स्मरण करा रहे थे जिन्होंने कभी ब्राह्मणों अथवा वैष्णवों को दण्ड नहीं दिया था।

मनुष्य की शुद्ध चेतना या कृष्णचेतना भौतिक कार्यकलापों के कारण दूषित हो जाती है। त्याग, दान, पुण्यकर्म इत्यादि के द्वारा शुद्ध चेतना जाग्रत की जा सकती है, किन्तु जब कोई ब्राह्मण या वैष्णव के प्रति अपराध करके कृष्णचेतना को दूषित कर लेता है, तो उसे जाग्रत कर पाना कठिन हो जाता है। श्री चैतन्य महाप्रभु ने वैष्णव अपराध को प्रमत्त हाथी द्वारा किये गये अपराध के तुल्य बताया है। मनुष्य को ब्राह्मण या वैष्णव के प्रति अपराध न करने के प्रति सतर्क रहना चाहिए। दुर्वासा जैसे महान् योगी को भी महाराज अम्बरीष जैसे वैष्णव का अपमान करने के लिए, जो न तो ब्राह्मण थे, न संन्यासी, अपितु सामान्य गृहस्थ थे, सुदर्शन चक्र की यातना सहनी पड़ी थी। महाराज अम्बरीष वैष्णव थे; इसीलिए दुर्वासा मुनि को दण्डित होना पड़ा।

निष्कर्ष यह है कि यदि कृष्णचेतना भौतिक पापों से आवृत हो जाये तो हरे कृष्ण मंत्र का उच्चारण करके पापों को दूर किया जा सकता है, किन्तु यदि कोई ब्राह्मण या वैष्णव का अपमान करके कृष्णचेतना को दूषित कर लेता है, तो वह तब तक अपनी चेतना को प्राप्त नहीं कर पाता जब तक कि अपमानित ब्राह्मण या वैष्णव को वह प्रसन्न न कर ले। दुर्वासा मुनि को इसी पथ का अनुसरण करना

पड़ा था, क्योंकि उन्हें महाराज अम्बरीष की शरण में जाना पड़ा था। वैष्णव का अपराध तभी मिट सकता है जब अपराधकर्ता क्षमायाचना करे इसके अतिरिक्त और कोई साधन नहीं हैं।

वक्त्रं न ते वितिलकं मलिनं विहर्ष
संरम्भभीममविमृष्टमपेतरागम् ।
पश्ये स्तनावपि शुचोपहतौ सुजातौ
बिम्बाधरं विगतकुङ्कुमपङ्करागम् ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

वक्त्रम्—मुख; न—कभी नहीं; ते—तुम्हारा; वितिलकम्—निरलंकृत; मलिनम्—मलिन; विहर्षम्—खिन्न; संरम्भ—क्रोध से; भीमम्—भयानक; अविमृष्टम्—कान्तिहीन; अपेत-रागम्—स्नेहशून्य; पश्ये—मैंने देखा है; स्तनौ—तुम्हारे स्तन; अपि—भी; शुचा-उपहतौ—तुम्हारे आँसुओं से सिक्त; सु-जातौ—इतने सुन्दर; बिम्ब-अधरम्—बिम्बा के समान लाल होंठ; विगत—रहित; कुङ्कुम-पङ्क—केशर के; रागम्—रंग।

प्रिये, आज तक मैंने कभी भी तुम्हारे मुख को तिलक से रहित नहीं देखा, न ही मैंने तुम्हें कभी खिन्न तथा कान्ति या स्नेह से रहित देखा है। न ही मैंने तुम्हारे दोनों स्तनों को नेत्र अश्रुओं से सिक्त देखा है। न ही मैंने तुम्हारे बिम्बा फलों के समान लाल-लाल होठों को कभी लालिमा से रहित देखा है।

तात्पर्य : प्रत्येक स्त्री तिलक तथा सिन्दूर लगाने पर अत्यन्त सुन्दर लगती है। जब स्त्री के होंठ लाल केशर या सिन्दूर से रंजित रहते हैं, तो स्त्री अत्यधिक आकर्षक लगती है। किन्तु जब मनुष्य की चेतना तथा बुद्धि कृष्ण की विमल चेतना से रहित होती है, तो ये खिन्न तथा कान्तिहीन लगते हैं जिससे मनुष्य तीक्ष्ण बुद्धि होते हुए भी कोई लाभ नहीं उठा पाता।

तन्मे प्रसीद सुहृदः कृतकिल्बिषस्य
स्वैरं गतस्य मृगयां व्यसनातुरस्य ।
का देवरं वशगतं कुसुमास्त्रवेग-
विस्त्रस्तपौंस्नमुशती न भजेत कृत्ये ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

तत्—अतः; मे—मुझसे; प्रसीद—प्रसन्न हो जाओ; सु-हृदः—अभिन्न मित्र; कृत-किल्बिषस्य—पापकर्म किये जाने पर; स्वैरम्—स्वतंत्र रूप से; गतस्य—गये हुए का; मृगयाम्—आखेट के लिए; व्यसन-आतुरस्य—पापपूर्ण इच्छा से प्रभावित होकर; का—कौन स्त्री; देवरम्—पति को; वश-गतम्—अपने वश में; कुसुम-अस्त्र-वेग—कामदेव के तीर से बिंधा; विस्त्रस्त—छिन्न; पौंस्नम्—धैर्य; उशती—अत्यन्त सुन्दर; न—कभी नहीं; भजेत—प्यार करते; कृत्ये—कर्तव्य में।

हे रानी, मैं अपनी पापपूर्ण इच्छाओं के कारण तुमसे बिना पूछे शिकार करने जंगल चला गया। अतः मैं स्वीकार करता हूँ कि मुझसे अपराध हुआ। फिर भी मुझे अपना अन्तरंग समझ

कर तुम्हें अत्यन्त प्रसन्न होना चाहिए। मैं वास्तव में अत्यधिक दुखी हूँ, किन्तु कामदेव के बाणों से बिद्ध होने के कारण मैं कामुक हो रहा हूँ। भला ऐसी कौन सुन्दरी होगी जो अपने कामुक पति को त्याग देगी और उससे मिलना अस्वीकार कर देगी ?

तात्पर्य : स्त्री तथा पुरुष दोनों एक दूसरे को चाहते हैं, यह इस संसार की रीति है। स्त्रियाँ अपने को सदैव आकर्षक बनाये रखती हैं जिससे वे अपने कामुक पतियों को आकर्षक लगे। जब कभी कोई कामुक पुरुष अपनी पत्नी के समक्ष आता है, तो वह उसकी छेड़छाड़ का लाभ उठाकर जीवन का आनन्द लेती है। सामान्यतः जब पुरुष स्त्री पर टूट पड़ता है चाहे वह उसका पति हो या अन्य कोई हो तो उसे आनन्द आता है। दूसरे शब्दों में, जब मनुष्य की बुद्धि का सदुपयोग होता है, तो बुद्धि तथा बुद्धिमान पुरुष दोनों को परम संतोष मिलता है। जैसाकि *श्रीमद्भागवत* (७.९.४५) में कहा गया है—

यन्मैथुनादि गृहमेधिसुखं हि तुच्छं

कण्डूयनेन करयोरिव दुःखदुःखम् ।

कर्मियों का वास्तविक सुख विषयी-जीवन है। वे घर के बाहर कठिन श्रम करते हैं और इस परिश्रम की तुष्टि के लिए वे घर आकर विषयी-जीवन का भोग करते हैं। राजा पुरञ्जन जंगल में आखेट करने गया और वहाँ कठिन श्रम करके घर लौट आया जिससे विषयसुख उठा सके। यदि मनुष्य एक सप्ताह भी घर से बाहर किसी और शहर में रहता है, तो वह सप्ताह के अन्त में घर जाने तथा घर में अपनी पत्नी के साथ विषय-सुख लूटने के लिए अत्यधिक उत्सुक रहता है। *श्रीमद्भागवत* में इसकी पुष्टि हुई है— *यन्मैथुनादि गृहमेधि सुखं हि तुच्छम्*—कर्मि लोग विषयसुख के लिए ही इतना श्रम करते हैं। आधुनिक मानव-समाज ने अनियंत्रित विषयी-जीवन को छूट देकर जीवन की भौतिकतावादी धारा में सुधार किया है। इसे पश्चिमी जगत में स्पष्ट देखा जा सकता है।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के चतुर्थ स्कंध के अन्तर्गत “राजा पुरञ्जन का आखेट के लिए जाना और रानी का क्रुद्ध होना” नामक छब्बीसवें अध्याय के भक्ति वेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।